पुनर्नवा : एक सांस्कृतिक दस्तावेज

डॉ. शालिनी मूलचन्दानी
वरिष्ठ व्याख्याता (हिन्दी)
श्री डूंगर राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बीकानेर

प्रकाशक
श्री नवयुग ग्रन्थ कुटीर
बीकानेर

❋ 'पुनर्नवा एक सास्कृतिक दस्तावेज'

❋ डॉ शालिनी मूलचन्दानी

❋ प्रकाशक . श्री नवयुग ग्रन्थ कुटीर, बीकानेर

❋ टाईप सैटिंग . अमित कम्प्यूटर्स एण्ड प्रिन्टर्स, बीकानेर

❋ मुद्रक : आर जी. एसोसिएट्स, बीकानेर

❋ सस्करण : प्रथम, सन् 2005

Punarnava : Ek Sanskritik Dastavez (Criticism)
By · Dr. Shalini Moolchandani

सादर-समर्पण

ऊर्जस्वित, कर्मठव्यक्तित्व के धनी,
रचना के प्रेरणा-स्रोत,
परम सम्माननीय सास-ससुर को
जिनका स्नेह एवं आशीष
उन्नति-पथ पर चलने का सशक्त
सम्बल प्रदान करता है।

—शालिनी मूलचंदानी

अनुक्रम

पुरोवाक्

हिन्दी उपन्यास साहित्य का प्रारम्भ भारतीय संस्कृति के विकास का साहित्यिक संस्करण है। जीवन की जटिलता, विषमता और द्वन्द्वात्मक स्थितियां उपन्यास का विषय रही हैं। ये सभी विडम्बनाएं मानव के सामाजिक और सांस्कृतिक पक्ष से जुड़ी हैं और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी मूलत: सामाजिक व सांस्कृतिक बोध के सर्जक रहे हैं।

द्विवेदी जी ने ऐसे समय साहित्य-सृजन करना प्रारम्भ किया जब साहित्य में भारतीय सांस्कृतिक चेतना पाश्चात्य संस्कृति व सभ्यता से प्रभावित होकर अपना मूल स्वरूप विस्मृत करने लगी थी। ऐसे समय में भारतीय संस्कृति के रूप को लेकर कतिपय उपन्यासकार सामने आये जिन्होंने अंग्रेजियत के अंधानुकरण में डूबे भारतीयों को भारतीय संस्कृति के महात्म्य और उसकी विशदता दिखाकर उनका मार्ग प्रशस्त किया। इसी हेतु उन्होंने अपनी सृजन-भूमि के लिए प्राचीन भारत के गौरवमय इतिहास को लिया। द्विवेदी जी भारतीय संस्कृति के ऐसे ही प्रणेता हैं। भारतीय संस्कृति मानवीयता, आस्था, विश्वास जैसे मानवीय मूल्यों के कारण सदैव से उच्च स्थानीय रही है। अपनी समन्वयकारिणी शक्ति के बल पर इसने अन्य संस्कृतियों के महान् गुणों को भी आत्मसात् कर अपनी गुणवत्ता में वृद्धि की है। यही वह संस्कृति है जो मानव को व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर उठाकर सामाजिक कल्याण में निरत होने की प्रेरणा देती है।

आचार्य द्विवेदी की रचनाधर्मिता ने भारतीय संस्कृति के विराट फलक को आधार बनाया है। उनकी विलक्षण प्रतिभा ने सांस्कृतिक चेतना को उसके गौरवमय उदात्तता के साथ ग्रहण किया है। शाश्वत् मानव मूल्यों की तलाश उनके उपन्यास की विशेषता है। उनकी विद्वत्ता, नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा नित्य नवीन मौलिक विषयों का सृजन करती रही। उनका गहन अध्ययन भारतीय संस्कृति के रस से सराबोर है। उन्होंने न सिर्फ निबन्ध, आलोचना में अपने मौलिक प्रयासों से प्रसिद्धि पाई अपितु युगान्तरकारी ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना कर साहित्य जगत् को अपनी मौलिक कल्पना-शक्ति का परिचय दिया। उनके उपन्यास सुन्दर साहित्यिक प्रयोग हैं।

'पुनर्नवा' उपन्यास अपनी ऐतिहासिकता सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की दृष्टि से तो महत्वपूर्ण है ही, साथ ही मानवीय मूल्यों, व्यवस्थाओं के पुनर्वीक्षण से वर्तमान युगीन अपनी प्रासंगिकता सिद्ध करता चलता है।

'पुनर्नवा' का चिंतन-पक्ष व अनुभूति-पक्ष दोनों ही प्रबल हैं। जिन समस्याओं से पुनर्नवाकार जूझा है, वे युगों से गतिशील हैं, कहीं भी उनकी प्रासंगिकता पर प्रश्न-चिह्न नहीं लगा। 'पुनर्नवा' में प्रेमविवाह, अन्तर्जातीय विवाह, स्त्री-पुरुष के मध्य परिवर्तित होते सम्बन्ध, नारी की प्रतिष्ठा और समाज में उसका स्थान, वर्ण-व्यवस्था, दहेज प्रथा आदि समस्याओं का विश्लेषणात्मक समाधान प्रस्तुत किया है। समाज के दीन-हीन उपेक्षित पात्रों को महत्व देकर द्विवेदी जी ने सामाजिक व्यवस्थाओ को झकझोरा है।

'पुनर्नवा' एक सांस्कृतिक दस्तावेज ग्रंथ के प्रथम अध्याय मे द्विवेदी जी के उपन्यासों का सामान्य परिचय देते हुए संस्कृति के विविध पक्षो से उपन्यासो का सम्बन्ध जोडा गया है। 'पुनर्नवा' की ऐतिहासिक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के निर्माण के लिए शूद्रक कृत

'मृच्छकटिकम्' की कथा को आधार बनाया गया है। तत्कालीन संस्कृति और लोकजीवन के विविध रंग इसमें सहजता से पिरोये गये हैं।

'पुनर्नवा' ऐतिहासिक उपन्यास है, उसकी ऐतिहासिक क्षमताओं का आकलन द्वितीय अध्याय में किया गया है, साथ ही द्विवेदी जी की ऐतिहासिक-उपन्यास विषयक धारणा को उभारा गया है।

उपन्यास समाज के चितेरे होते हैं। समाज के विविध पक्षों का उद्घाटन 'पुनर्नवा' में तत्युगीन परिस्थितियों व सामाजिक मूल्यों के रूप में किया गया है। प्रेम की नूतन व्याख्याएं, विवाह की परम्परा से चली आ रही धारणाओं का टूटता अस्तित्व, परिवर्तित मान्यताओं का समागम और वर्ण व्यवस्थाओं की लौह-शृंखलाओं का क्षीण होना आदि का विहंगम चित्रों को 'पुनर्नवा' के सामाजिक पक्ष में लिया है।

भारतीय सांस्कृतिक गौरव उसकी विविध कलाओं—नृत्य, संगीत आदि के कलात्मक इतिहास में छिपा है। इनके अतिरिक्त संस्कृति का गुरु गाम्भीर्य रूप उसके धर्म, न्याय, शिक्षा व राष्ट्र के प्रति झलकता है। तृतीय अध्याय द्विवेदी जी की मान्यताओं व धारणाओं पर आधारित है। उन्हें एक जीवन दर्शन के माध्यम से व्यक्त किया गया है।

भाषा, शैली व अभिव्यक्ति-कौशल का वैचित्र्य और अद्भुत समागम चतुर्थ अध्याय में किया गया है। साथ ही पात्रों के मनोजगत् के भीतर झांककर बहिर्जगत में उनके क्रिया-कलापों से इसका सम्बन्ध जोड़ा गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ राजस्थान विश्वविद्यालय की पूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष एवं प्रोफेसर श्रद्धेया डॉ. सुदेश बत्रा के विद्वत्तापूर्ण परामर्श व उनके आत्मीय स्नेह की चर्चा किये बगैर अपनी पूर्णता नहीं पा सकता। मै उनके प्रति हृदय से अनुगृहीत हूं।

परम आदरणीय सास-ससुर के प्रति आभारी हूं, जिन्होंने माता-पिता से भी बढ़कर अपने स्नेह एव आशीर्वाद के साथ जीवन के प्रत्येक मोड़ पर मार्गदर्शन देकर, जीवन जीने की ऊर्जा एव साहस प्रदान किया। जीवनयात्रा के सहचर, सहधर्मी और दिशा-निर्धारक डा. अनिल मूलचन्दानी का प्रेमयुक्त सहयोग और प्रोत्साहन, देवर-देवरानी हरीश-सुनीता, पुत्री झंकार एवं पुत्र कर्ण व दक्ष के मधुर स्नेह ने लेखन को शक्ति प्रदान की है। श्री भंवरसिंह सामौर, पूर्व प्राचार्य, लोहिया राजकीय महाविद्यालय, चुरू के प्रति भी श्रद्धावनत हूं, जिन्होने अपने सद्परामर्श से मार्गदर्शन किया। डूंगर महाविद्यालय के उर्दू विभाग के व्याख्याता डा. मोईनुद्दीन शाहीन के प्रति भी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूं, जिन्होने निरन्तर लिखने का उत्साह और प्रकाशन की योजना प्रदान की।

इस ग्रथ के प्रकाशन हेतु आर जी. एसोशिएट्स के श्री राजेश गहलोत एव श्री नवयुग ग्रन्थ कुटीर के श्री शेखर सक्सेना जी को धन्यवाद देना भी मेरा पुनीत कर्त्तव्य है, जिन्होने रुचिपूर्वक ग्रथ को मूर्त आकार प्रदान किया। लेजर टाईप सैटिंग हेतु श्री अमिताभ-प्रमोद नागोरी के प्रति आभारी हू। मै हार्दिक सद्उद्गारो के साथ उनके उज्ज्वल मगलमय भविष्य की कामना करती हूँ।

—शालिनी मूलचन्दानी

4-डी-97

जयनारायण व्यास कॉलोनी, बीकानेर

26 जनवरी 2005

बीकानेर

द्विवेदी जी के उपन्यास : परिचय

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य में सुधी आलोचक व मौलिक लेखन के लिये सुप्रसिद्ध रहे हैं। उपन्यासकार के रूप मे हिन्दी साहित्य मे द्विवेदीजी का विशिट स्थान है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (1943) से उन्होंने उपन्यासकार के रूप में हिन्दी साहित्य के रंगमंच पर पदार्पण किया। 'चारुचन्द्रलेख' (1963) 'पुनर्नवा' (1973) और 'अनामदास का पोथा' (1976) उपन्यास लिखकर उपन्यास जगत में अपना वैशिष्ट्य स्थापित किया।

इन सभी उपन्यासों की पृष्ठभूमि ऐतिहासिक पौराणिक आधार लिये हैं। उनके सभी उपन्यासो में उनकी व्यक्तिगत रुचियां एवं मान्यताएं प्रमाण रूप से विद्यमान ऐतिहासिक सांस्कृतिक आधार, कल्पना-प्रवणता, प्रेम का उदात्त रूप, सामाजिक सम्बन्धों की व्याख्या, नारी की सम्मान रक्षा, पाण्डित्य के विविध पक्ष आदि थोड़े बहुत अन्तर से देखे जा सकते हैं।''[1]

आचार्य द्विवेदी ने ''भारतीय धर्म, दर्शन एवं साहित्य की समस्त साधनाओं और परम्पराओ को पूर्ण सहानुभूति से आत्मसात् करने, पुरातत्त्व, नृतत्त्व शास्त्र, प्राणी विज्ञान आदि के परिप्रेक्ष्य में परखने और उसे नये इतिहास बोध से जोड़ने के प्रयत्न मे बड़े साहस और सहिष्णुता का परिचय दिया है।''[2] उनके चारो उपन्यास भारतीय संस्कृति का कीर्तिध्वज उठाये हुए उसके गौरव-गरिमा की प्रतिष्ठा करते हैं। ''उनका सारा चिन्तन मूलत: भारतीय चिन्तन के इर्द-गिर्द घूमते हुए भी वैज्ञानिक और तराशा हुआ है, जो मृत परम्पराओं, झूठी रूढ़ियों और दलित वर्जनाओ का डटकर विरोध करता है, जो बाह्याचारों और अन्धविश्वासों का पर्दाफाश करता है।''[3] द्विवेदी जी ने ऐतिहासिकता का आश्रय लेकर अपने उपन्यासो के माध्यम से पुरातन जड़ संस्कारो को युगानुरूप परिवर्तन के साथ प्रस्तुत किया है। इसी को लक्ष्य करके डा. विजयेन्द्र स्नातक ने कहा–''मूल्यों के संक्रमण के युग में आचार्य द्विवेदी ने भारत की हजारों साल पुरानी परम्परा को आत्मसात् कर अतीत के उज्ज्वल इतिहास को समझकर और वर्तमान युग के जीवन्त बोध को पचाकर जो कुछ लिखा वह साहित्य के निष्कर्ष पर कालजयी ठहरता है।''[4]

द्विवेदीजी ने प्राचीन भारतीय संस्कृति को अपने उपन्यासो का आधार बनाया क्योकि उनकी मान्यता थी कि ''प्राचीन उपन्यास साहित्य में यथार्थ की उपेक्षा तो नहीं थी किन्तु यथार्थ को मादक बनाकर प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति थी। रीतिकालीन कविता से यह मादक बनाने की प्रक्रिया उन दिनों विरासत में प्राप्त थी।..... हमारे देश के उपन्यासो में यथार्थवादी झुकाव तो पाया जाता है, किन्तु यथार्थवाद का जो वास्तविक मर्म है, अर्थात् आगे बढ़े हुए ज्ञान और पीछे के आदर्शों से चिपटी हुई आचार परम्परा इन दोनो के व्यवधानों को पाटते रहने का निरन्तर प्रयत्न बहुत

कम उपन्यासकारों के पल्ले पड़ा है।''[6]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की मान्यता है कि साहित्य का लक्ष्य महान् होता है। प्रत्येक साहित्यकार को यथार्थ व आदर्श का समन्वय करना चाहिये जो साहित्य अविस्मरणीय दृढ़चेता चरित्रों की सृष्टि नहीं कर सकता, जो मानव चित्त को मथित और चालित करने वाली परिस्थितियों की उद्‌भावना नहीं कर सकता और मनुष्य के दुःख-सुख को पाठक के सामने हस्तामलक नहीं बना देता वह बड़ी सृष्टि नहीं कर सकता।''[6]

वस्तुतः द्विवेदी जी के उपन्यासों का उपजीव्य भारतीय इतिहास रहा है, किन्तु उनका दृष्टिकोण वर्तमान से पलायन नहीं है, अपितु वे वर्तमान को अतीत के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करते हैं। इसके लिए कुछ चिंतन के सूत्र वे अपने पाठकों को थमा देते हैं तथा कुछ प्रगतिशील पात्रों की सर्जना करते हैं जो उस काल के लिए ही नहीं अपितु वर्तमान काल के सन्दर्भ में भी अपना प्रभाव छोड़ते हैं, साथ ही प्रगतिशील विचारधारा का संवहन करते हैं। उनके सभी उपन्यासों में सर्वत्र यह दर्शनीय है।

शिल्प-शैली तथा प्रयोगात्मकता की दृष्टि से हिन्दी ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (1943 ई.) का एक विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण स्थान है और हिन्दी उपन्यास के विकास में एक महनीय योगदान है। यह भारतीय गद्य कथा व भारतीय उपन्यास शैली के समन्वय का बड़ा ही कलात्मक व सौष्ठवयुक्त प्रयोग है।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' हर्षकालीन भारत के परिवेश में लिखी गई ऐतिहासिक रोमांस की सृष्टि है। इस उपन्यास में 'कादम्बरी' तथा 'हर्षचरित' के प्रणेता बाणभट्ट को कथानायक बनाकर कथा संसार को रचा है। बाणभट्ट के जीवन की अत्यन्त सामान्य व तुच्छ घटनाओ को भी लेखक ने अपनी कल्पना से रंगकर नवीन दीप्ति प्रदान की है जिससे बाणभट्ट के जीवन वृत्त की तमाम विशेषताएं करतल पर स्थित आमलक की भांति स्पष्ट आभासित हो उठी है। व्यक्तित्व उद्‌घाटन के साथ युग चेतना भी उभरकर सामने आती है। हर्षयुगीन राजनैतिक, धार्मिक व सांस्कृतिक वातावरण भी मुखर हो उठा है। साथ ही वर्तमान युग की विडम्बनाओं को भी आड़े हाथों लिया है। ''समकालीन इतिहास की काल्पनिक अवतारणा 'बाणभट्ट' की विशिष्ट उपलब्धि है। कल्पना ने इतिहास को बहुरंगी बनाया है, उसे प्राणवत्ता प्रदान की है। प्राचीन और अर्वाचीन का इतना सुन्दर समन्वय अन्यत्र दुर्लभ है। इसमें भारत की प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा, नवीन जीवन की गतिविधि तथा भविष्य का आशावादी स्वर ध्वनित हुआ है।''[7]

'बाणभट्ट की आत्मकथा' में हर्षयुगीन जीवन सप्राण हो उठा है। तत्कालीन जनजीवन अनेक अन्तर्विरोधो से ग्रस्त था। बार-बार के आक्रमणों व शासकों की अनुपयुक्तता व ऐश्वर्य से क्षुब्ध जनता धर्म की ओर झुकी हुई थी। धर्म के क्षेत्र में भी पर्याप्त विषमताएं आ गई थीं तथा प्रत्येक धर्म अन्य धर्मों की अपेक्षा अपना अस्तित्व

प्रमाणित करने के लिए प्रयत्नशील था। सामाजिक जीवन के इस घटाटोप अन्धकार में नारी की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गई थी। वह पुरुष का मनोरंजन करने का साधन मात्र बनकर रह गई थी। "मध्यकालीन सामन्तशाही, उसकी हीनता, उसके पाप, उसकी छांह में पलती हुई नागरिक सभ्यता की निर्वीर्यता, राजमहलो के अंध गह्वरों में बंदी तड़पता हुआ नारीत्व, आश्रय पाता हुआ विलासी क्रूर समुदाय, मिथ्या दर्प, ईर्ष्या, द्वेष और स्वार्थ पर ठहरा हुआ धर्म और पांडित्य तथा मानव मूल्यों को गलत ढंग से आंकने वाली पनपती हुई दृष्टियां, ये सभी 'आत्मकथा' के परिवेश में बड़ी जीवन्तता से उभरे हैं।"[8]

इस उपन्यास का नायक 'बाणभट्ट' इतिहास-प्रसिद्ध है, कुछ पात्र एवं स्थितियां भी तथ्यानुसार हैं और कुछ पात्रों की अवतारणा लेखक ने अपनी कल्पना से की है। बाण घर त्यागकर विविध मण्डलियों में इधर-उधर भटकते हुए अपना समय व्यतीत करता है। हर्षवर्धन के भाई द्वारा प्रेरित होकर वह हर्षवर्धन के राजदरबार में जाता है, हर्षवर्धन उसका अपमान करता है तत्पश्चात् उसको राजकवि नियुक्त करता है। प्रस्तुत तथ्य इतिहास द्वारा अनुमोदित हैं। निपुणिका, भट्टिनी, महामाया, अघोर भैरव, सुचरिता तथा लोरिकदेव आदि के प्रसंग में लेखक ने अपनी उर्वर कल्पना का आश्रय लिया है। लेखक ने तात्कालिक सामाजिक एवं सास्कृतिक वातावरण का आभास देने के लिए राजमहल, अन्त:पुर, राजदरबार, राजमार्ग, हाट बाजार, बौद्ध-विहार, उद्यान मन्दिर, मदनोत्सव, तंत्र-मंत्र, संगीत नृत्य आदि का वर्णन काव्यात्मक शैली में किया है। हर्षकालीन वातावरण को उभारने मे उसे पूरी सफलता मिली है।

'चारु चन्द्रलेख' (1963) मध्ययुगीन संस्कृति का चित्रण है। ग्यारहवीं शताब्दी का काल अपनी राजनैतिक व सांस्कृतिक उथल-पुथल के कारण ऐतिहासिक महत्त्व का काल है। यदि हम 'बाणभट्ट की आत्मकथा' को हर्षकालीन संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में कला का अंगूर कह सकते हैं तो 'चारु चन्द्रलेख' में धर्म और इतिहास का भ्रमर-चंपक का प्रयोग। सारे उपन्यास में आधुनिक शिक्षित सस्कारों से समावृत्त वैष्णव दृष्टि से जड़ीभूत मध्यकालीन धार्मिकता और सामाजिक संस्कृति की विवेचना की गई है।"[9]

इस उपन्यास में "द्विवेदी जी ने समसामयिक देशदशा और नवीनतम आधुनिक विचारों की सजग चेतना के साथ 12वीं-13वीं सदी के आपसी कलह से जर्जर तुर्कों के बाह्य आक्रमणो से आक्रान्त, नानाविध सम्प्रदायो एवं अभिचारों की तन्त्र मन्त्र साधनों के व्यामोह में उद्भ्रान्त भारतीय समाज की शिथिलता, अराजकता, विशृंखलता, परमुखापेक्षिता तथा मनोबलक्षीणता के कारण एवं दुष्परिणामो के सधान का प्रयास किया है। इस लक्ष्य की सिद्धि के प्रयास में यह विचार-प्रधान सांस्कृतिक ऐतिहासिक उपन्यास बन गया है।"[10]

द्विवेदी जी ने इस उपन्यास मे मध्ययुग में प्रचलित धर्म साधनाओ के विविध

रूप प्रस्तुत किये है। सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक आते-आते बौद्ध धर्म अपने मूल स्वरूप को खोकर ह्रासोन्मुख होता चला जा रहा था और अनेक सम्प्रदायों में विभक्त होकर तन्त्र-मंत्र की ओर उग्रसर हो रहा था। शैव और शाक्त मत भी तन्त्र साधना की ओर उन्मुख हो रहे थे। समाज अपनी गौरव-गरिमा को विस्मृत कर पतन की ओर जा रहा था, उदात्त मूल्य जैसे कहीं खो गये थे। समाज की इस विसंगति को द्विवेदी जी ने 'चारु-चन्द्रलेख' उपन्यास के माध्यम से उठाकर पुन. मानव को आन्तरिक कलह से ऊपर उठने का आधार प्रदान किया है।

'चारु-चन्द्रलेख' उपन्यास में द्विवेदी जी ने प्रमुख पात्र सातवाहन और चन्द्रलेखा की सृष्टि अपनी कल्पना के माध्यम से की है तथापि कुछ ऐतिहासिक पात्रों को भी इन्होने लिया है। उस काल के इतिहास की पुनर्रचना में 'पृथ्वीराज रासो' को उपजीव्य बनाकर लेखक ने विद्याधर (विज्जाहर), धर्मायण (बोधा प्रधान के पिता), नाटी मावा (कनवज्ज समय की कर नाटी), सुहाग देवी (सूहव देवी), जल्हन, चन्द्र बलिद्दय (चन्दवरदाई), हाहुलीराय, धीरशर्मा, सीटी मोला जैसे राज एवं जनजीवन के अल्पख्यात पात्रो द्वारा ऐतिहासिक रोमांस को ऐतिहासिक उपन्यास तथा ऐतिहासिक अनुसधान के स्तर पर उद्घाटित किया है।'' [11]

'पुनर्नवा' (1973) हजारी प्रसाद द्विवेदी का उपन्यास चौथी शताब्दी की घटनाओं पर आधारित कल्पना-प्रधान ऐतिहासिक उपन्यास है। इसमें वर्तमान युग के आदर्शो, नारी के प्रति व्यापक सहानुभूति, अनाचारी राजाओ के विरूद्ध सफल जन विद्रोहो के चित्रण तथा आध्यात्मिकता एवं सामाजिकता के समन्वय के साथ ह्रासोन्मुखी वैदिक सस्कृति की प्रभावी पुनर्प्रतिष्ठा की गई है। ''इसमें एक ओर समुद्रगुप्त को प्रजापालक लोकप्रिय शासक के रूप मे चित्रित किया गया है और दूसरी ओर प्राय· सभी प्रमुख पात्रो को आत्मपरिष्कार एवं आत्म-विस्तार करते हुए महाभाव की प्राप्ति में सलग्न दिखाया गया है। इस प्रकार उद्देश्य को घटनावली चरित्रावली का बल मिल जाने से रजक और संवेदक उपन्यास की सृष्टि हो सकी है।'' [12]

'पुनर्नवा' मे समाज के हीन से हीनतर पात्रों के चरित्र को उभारा गया है जिन्हे समाज उपेक्षा देता है किन्तु जिनकी वास्तविक परिस्थितिया वे नहीं जानते अथवा जानना नहीं चाहते। ये पात्र लाछ्नाओ के कोहरे मे अपने अस्तित्व को ढक लेते है और उनका मूल स्वरूप लुप्त हो जाता है। जब वे इन लांछनाओ से मुक्त होते है तो उनका निर्मल स्वच्छ रूप प्रस्फुटित होता है।

ऐतिहासिकता के निर्वाह के लिये इसमे इतिहास प्रसिद्ध सम्राट समुद्रगुप्त को लिया है, साथ ही शूद्रक कृत 'मृच्छकटिकम्' के ऐतिहासिक पात्रो गोपाल आर्यक व शार्विलक को लिया है। लोरिक देव की लोक कथा के ताने-बाने को भी इस उपन्यास में बुना गया है। अधिकांश नारी पात्रो की कल्पना मे द्विवेदी जी ने कल्पना का आश्रय ग्रहण किया है।

'अनामदास का पोथा' (1976) आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की अन्तिम कथाकृति है। यह उपन्यास द्विवेदी जी की अन्य उपन्यास कृतियो की अपेक्षा विशिष्ट है। इसमें उपनिषद् काल के परिवेश का चित्रण है। छादोग्य उपनिषद् के रैक्व-आख्यान पर आधारित है। उपनिषद्कार अतीत मे वर्तमान का अन्वेषण करता है। यह सिद्ध करता है कि उपनिषदों में ब्रह्म, आत्मा, आदि के विषय में कोरा तर्क-वितर्क ही नहीं है अपितु तर्कों से प्राप्त निष्कर्षों को व्यवहार मे उतारने की चेष्टा है। उपनिषदों के आत्मवादी स्वरूप का खण्डन करते हुए मानवतावाद के विश्व रूप को प्रमुख रूप से उभारा गया है। ब्रह्म, आत्मा, जगत आदि के विषय में तर्क-वितर्क ज्ञान की कसौटी नहीं है। ज्ञान और विद्वता की अन्तिम कसौटी मानव कल्याण है, सबको सुखी रखकर ही मानव संतोष पा सकता है। विश्व के दीन-हीनों की सेवा ही परम मोक्ष है, कोरा वाग्-वितण्डा ज्ञान नहीं है और न मोक्ष प्राप्ति का साधन।

अस्तु, अनामदास का पोथा, जिजीविषा की कहानी है–''जिजीविषा है तो जीवन रहेगा और अनन्त सम्भावनाएं भी रहेगी। वे जो बच्चे है, किसी की टांग सूख गई है, किसी का पेट फूल गया है, किसी की आंख सूज गई है–ये जी जाये तो इनमें बड़े-बड़े ज्ञानी बनने की सम्भावना है।''[13] रैक्व ज्ञान के इसी स्रोत के लिये उद्विग्न है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के चारों उपन्यास औपन्यासिक प्रतिभा के उच्चतम शिखर को छूते हुए साहित्य जगत् की महनीय उपलब्धि के रूप में अपनी विशिष्ट पहचान रखते हैं।

संस्कृति और उपन्यास साहित्य :–

उपन्यास आधुनिक सभ्यता व संस्कृति की महनीय देन है। उपन्यासो के माध्यम से जीवन का विस्तृत फलक सांस्कृतिक बोध से अनुप्राणित होकर हमारे सम्मुख आता है। उपन्यासकार के लिये युगीन सांस्कृतिक सन्दर्भों को प्रस्तुत करना चुनौती का विषय बन जाता है। युग व संस्कृति से कटकर कोई भी सृजन पूर्ण नहीं कहला सकता। तात्पर्य यह है कि ''उपन्यास साहित्य का संस्कृति से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। कोई भी उपन्यास उसी मात्रा में महत्त्वपूर्ण तथा गौरव का अधिकारी हो सकता है, जिस मात्रा में उसने अपने समकालीन जीवन तथा संस्कृति से अपना साक्षात्कार किया हो।''[14] युगीन सांस्कृतिक, राजनैतिक, सामाजिक व धार्मिक आधारो को समझे बिना युग विशेष के उपन्यास साहित्य का अध्ययन सुचारु रूप से नहीं किया जा सकता।

साहित्य जीवन के उदात्त मूल्यों का प्रतिष्ठापक है। साहित्य मात्र मनोरंजन ही नहीं अपितु जीवन जीने का मार्गदर्शक भी है। साहित्य की इसी सशक्तता का समर्थन करते हुए द्विवेदी जी लिखते हैं–''साहित्य का लक्ष्य मनुष्यता ही है। जिस पुस्तक से यह उद्देश्य सिद्ध नहीं होता, जिससे मनुष्य शोषण और अत्याचार के विरुद्ध सिर उठाकर खडा नहीं हो जाता जिससे वह छीना-झपटी, स्वार्थपरता और हिंसा के

दलदल से उबर नहीं पाता, यह पुस्तक किसी काम की नहीं।''[15] अस्तु, साहित्य मानव मे उच्च मूल्यों की स्थापना कर उसे संस्कृति के निकट ला देता है, इतना ही नहीं साहित्य शाश्वत् व दृढ मूल्यों की स्थापना के साथ ऐसे मानवीय आदर्शों की स्थापना करता है, जो युगों तक प्रकाश स्तम्भ की भांति मानव का पथ-प्रदर्शन कर उसे दीप्ति प्रदान करता है। ''साहित्य का लक्ष्य है, जीवन के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करके मनुष्यता के वास्तविक लक्ष्य तक ले जाने का संकल्प। मनुष्य के दु.खों को अनुभव करा सकने वाली दृष्टि की प्रतिष्ठा और ऐसे दृढचेता आदर्श चरित्रों की सृष्टि, जो दीर्घकाल तक मनुष्यता को मार्ग दिखाते रहे।''[16]

भारतीय संस्कृति अपनी समन्वयकारी शक्ति के कारण विख्यात रही है। इस संस्कृति ने अनेक संस्कृतियों के प्रभावों को आत्मसात् कर सदैव अपने को जीवन्त बनाये रखा है। यह भारतवर्ष महामानव समुद्र है। केवल आर्य, द्रविड़, कोल और मुण्डा तथा किराट जातियां ही इसमें नहीं आई हैं। कितनी ही ऐसी जातियां यहां आई हैं, जिन्हें निश्चित रूप से किसी श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। फिर उत्तर-पश्चिम से नाना जातियां राजनीतिक और आर्थिक कारणो से आती रही हैं। उन सबके सम्मिलित प्रयत्न से वह महिमापालिनी संस्कृति उत्पन्न हुई है, जिसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं।''[17] कहना न होगा कि भारतीय संस्कृति की इस विशेषता को भारतीय साहित्य ने भी आत्मसात् किया है। साहित्य भी इन संस्कृतियों की विशेषताओं के चित्रण में अग्रणी रहा है, इन संस्कृतियों की भाषा के कुछ शब्दों के लिये भी भारतीय साहित्य ऋणी रहा है। नाना प्रकार की धार्मिक साधनाओं, कलात्मक प्रयत्नों और सेवा भक्ति तथा योगमूलक अनुभूतियों के भीतर से मनुष्य उस महान् सत्य के व्यापक और परिपूर्ण रूप को क्रमश: प्राप्त करता जा रहा है, जिसे हम संस्कृति शब्द द्वारा व्यक्त करते हैं।''[18]

संस्कृति को संकीर्ण नहीं होना चाहिए। उसे विविध संस्कृतियो के सद्गुणो को ग्रहण करने हेतु तत्पर रहना चाहिये। आचार्य द्विवेदी की धारणा है-'' मैं संस्कृति को किसी देश-विशेष या जाति-विशेष की अपनी मौलिकता नहीं मानता। मेरे विचार से सारे संसार के मनुष्यो की एक मानव-संस्कृति हो सकती है।''[19] साहित्य भी मानवीय संवेदनाओं को देश व जाति की सीमा से दूर रखकर संस्कृति के विराट् कैनवास पर चित्रित करता है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी की यह सांस्कृतिक पृष्ठभूमि उन्हें अपनी संस्कृति के रंग में सराबोर करती हुई उनके कृतित्व के लिये आधार प्रदान करती है। डॉ नामवरसिंह के शब्दों में ''भारत की संस्कृति उनके लिये केवल विचार का विषय नही, बल्कि आत्मा का स्पन्दन है, रसावेश है। ...भारतीय संस्कृति द्विवेदी जी के लिये 'तब' और 'वहां' की चीज नहीं बल्कि 'अब' और 'यहाँ' का जीवन्त अनुभव है।''[20]

निष्कर्षत: द्विवेदी जी मानवीय आस्था के परिपोषक कथाकार है। आस्था, जिजीविषा मानवीयता और उदात्त जीवन मूल्यो की स्वीकृति उन्हें सांस्कृतिक बोध का निर्माता प्रमाणित करती है। उनका यह स्वर उनके उपन्यासो व लेखो में पूर्णत:

प्रस्फुटित हुआ है। एक भेंटवार्ता में उन्होने इसे स्पष्ट किया है; " संस्कृति का मुख भविष्य की ओर होता है, वह निरन्तर सम्पूर्ण समष्टि-मानव के कल्याण के लिये है, क्योकि वह निर्मात्री शक्ति है, अत: बहुत सी चीजों को, जो सड़ी गली हुई हैं, छोड़ती जाती है और जो नये क्षेत्र में आती हैं, उन्हें ग्रहण करती है।"[21]

उनका यह दृष्टिकोण उनके चारों उपन्यासों में पूरी तरह से फलित हुआ है। उनका उदात्त व्यक्तित्व भारतीय संस्कृति की ही विशेषताओं से नहीं बंधा अपितु वह विविध संस्कृतियों के व्यापक प्रभाव को समाहित कर चला है।

संदर्भ :

1. हिन्दी साहित्य : अंतरंग पहचान–डा. प्रेमकुमार, पृष्ठ 152
2. दस्तावेज-वर्ष 2, अंक 5/6, तुम्हीं सो गये दास्तां कहते कहते–शिव मगलसिह 'सुमन', पृष्ठ-19
3. दस्तावेज वर्ष 2, अंक 5/6, न मानुषात श्रेष्ठतर हि किंचित विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, पृष्ठ 60-61
4. दस्तावेज संस्कृति के प्रतीक और आख्यात निबन्ध, पृष्ठ 82
5. विचार और वितर्क–हिन्दी उपन्यासों में यथार्थवाद का आतंक, शीर्षक निबन्ध, पृष्ठ 107-108
6. विचार और वितर्क–सच्चा साहित्यकार, शीर्षक निबन्ध, पृष्ठ 128
7. डा रामदरश मिश्र, हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा, पृष्ठ 174
8. डा. रामदरश मिश्र, हिन्दी उपन्यास · एक अन्तर्यात्रा, पृष्ठ 175
9. समसामयिक हिन्दी साहित्य की उपलब्धियां–सं. मन्मथनाथ गुप्त, रमेश कुन्तल मेघ द्वारा लिखित "चारु चन्द्रलेख : रंगीन इतिहास खण्ड का दर्पण" द्वारा उद्धृत, पृष्ठ 106
10. हिन्दी उपन्यास : एक अर्न्तयात्रा–डा. रामदरश मिश्र, पृष्ठ 176
11. समसामयिक हिन्दी साहित्य की उपलब्धियां–डा रमेश कुन्तल मेघ, पृष्ठ 107
12 हिन्दी उपन्यासों के सौ वर्ष–पं. रामदरश मिश्र, संकलित निबन्ध, पृष्ठ 134
13. अनामदास का पोथा, पृष्ठ 87
14. हिन्दी उपन्यास साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन-डॉ. रमेश तिवारी, पृ.-32
15. विचार और वितर्क साहित्य का प्रयोजन, लोक कल्याण, पृष्ठ-62
16 विचार और वितर्क . सच्चा साहित्यकार, पृष्ठ-130
17 कल्पलता : 'संस्कृतियो का संगम' शीर्षक निबन्ध, पृष्ठ-65
18 अशोक के फूल : 'भारतीय संस्कृतियों की देन', शीर्षक निबन्ध, पृष्ठ-75
19 अशोक के फूल · 'भारतीय संस्कृतियो की देन', शीर्षक निबन्ध, पृष्ठ-75
20 साप्ताहिक हिन्दुस्तान (17 से 23 जून 1979) 'स्मृति शेष की स्मृति', निबन्ध, पृष्ठ-14
21. साप्ताहिक हिन्दुस्तान (17 से 23 जून 1979), मित्रत्रयी को दिये गये साक्षात्कार से, पृष्ठ-35

'पुनर्नवा' और उसका ऐतिहासिक महत्व

'पुनर्नवा' ऐतिहासिक विशेषण से मर्यादित विशिष्ट उपन्यास है। ऐतिहासिक उपन्यास के सम्बन्ध में विद्वानो ने विविध विचार प्रस्तुत किये है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत है कि ''साधारणतया ऐसे उपन्यास जिनमें अतीतकालीन पात्र, वातावरण और घटनाओ के ज्ञात तथ्यो को कल्पना से मांसल और जीवन्त बनाकर रखने का प्रयास होता है, ऐतिहासिक उपन्यास कहे जाते हैं।''[1]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की ऐतिहासिक उपन्यास विषयक धारणा

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास और कल्पना का समन्वय मानते है। इतिहास के तथ्य मात्र ही ऐतिहासिक उपन्यास का निर्माण नहीं कर सकते, ''उसे धारावाहिक बनाने के लिए इतिहास लेखक को अनुमान का सहारा लेना पड़ता है। तथ्य सदा सत्य नहीं होता मनुष्य के मस्तिष्क और हृदय से निकलने पर ही वह सत्य रूप धारण कर सकता है।''[2]

द्विवेदीजी मानते हैं कि उपन्यासकार यथार्थ की उपेक्षा करके नहीं चल सकता। सच है कल्पना का आश्रय आवश्यक है किन्तु पुरातत्त्व, मानवत्व और मनोविज्ञान की आधुनिकतम प्रगति से उसे अनभिज्ञ नहीं होना चाहियें। शब्द प्रयोग मे उसे सावधान रहना चाहिये क्योंकि उसकी तनिक भी असावधानी इस बोध में बाधक सिद्ध हो सकती है। ''ऐतिहासिक लेखक का वक्तव्य तथा इतिहास की जानकारी इस युग की प्रामाणिक पुस्तकों, मुद्राओ और शिलालेखों के आधार पर जांची हुई होनी चाहिये। ऐतिहासिक उपन्यासों का लेखक मृत घटनाओ और अर्द्ध ज्ञान या नाम मात्र से परिचित व्यक्तियो के कंकाल में प्राण संचार करता है। कल्पना उसका प्रधान अस्त्र है। पर उस कल्पना के साथ उसमे जानकारी का सामंजस्य होना चाहिये। अगर उसके कल्पना के पोषक प्रमाण प्रमाणित नहीं हुए तो रसास्वाद में पग-पग पर बाधा पहुंचेगी।''[3]

ऐतिहासिक उपन्यासकार को युगीन परिस्थितियों का पूरा ज्ञान होना चाहिये। पात्रो के चरित्र-चित्रण में उनकी बातचीत मे, उसके वस्त्रालंकारो के वर्णन में, उनकी रीति-नीति के उपस्थापन मे सर्वत्र औचित्य की आवश्यकता होती है अन्यथा सहृदय पाठक के रसास्वादन में बाधा उपस्थित होगी। द्विवेदी जी इतिहास की जानकारी के साथ कल्पना को ऐतिहासिक उपन्यासो का अमोघ अस्त्र मानते हैं। कल्पना ही क्षतिपूरक रूप मे ऐतिहासिकता का भरपूर निर्वहन कर सकती है।

द्विवेदी जी के इतिहास-प्रेम पर पलायन का आक्षेप भी लगाया जाता है जिसका उत्तर देते हुए वे कहते है-''इतिहास मनुष्य की तीसरी आंख है। ... ईश्वर नहीं चाहता था कि मनुष्य पीछे की ओर देखे। लेकिन बाद मे सोचा कि ईश्वर ने मनुष्य को पीछे की ओर देख सकने वाला नेत्र दिया है और वह है उसका इतिहास-बोध। इतिहास प्रेम की बात मै नहीं जानता मगर इतिहास बोध को पलायन समझना

आधुनिकता नहीं।''[4]

द्विवेदीजी का इतिहास प्रेम 'सारिका' को दिये गये साक्षात्कार से स्पष्ट होता है। इसमे वे कहते हैं–''मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि आज जो मनुष्य है, वह हजार वर्ष पहले भी मनुष्य था। जो भावनाएं मनुष्य के भीतर है, वे किसी न किसी रूप में पहले भी थीं और उन्होने इतिहास को रूप दिया है। वास्तविक इतिहास मनुष्य की उस चिंतन वृत्ति को अभिव्यक्ति देता है, जिससे वह निरन्तर निखरता गया है और अनेक कठिनाइयों के बावजूद आगे बढता चला जा रहा है। इतिहास की 'थ्योरी' आये दिन बदलती रहती है, पर जो इतिहासपरक उपन्यास हैं, यदि उनमें सचमुच रस हुआ तो वे सदा रहेंगे। मैं सिर्फ यह कहना चाहता हूँ कि ऐतिहासिक पात्रो का सहारा लेकर मैने रस की सृष्टि की है और रस से बड़ा कोई न्याय नहीं है।''[5]

अस्तु, द्विवेदीजी के उपन्यासों में इतिहास बोध नित्य नूतन रसों से सचित होकर सामने आता है। प्राचीन भारतीय संस्कृति का गौरव उनके साहित्य में मुखर हो उठा है। वे भारतीय संस्कृति को अधुनातन महत्त्व और प्रासगिकता सिद्ध करते चलते है।

'पुनर्नवा' की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि :--

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का 'पुनर्नवा' (1973) चौथी शताब्दी की घटनाओं पर आधारित समुद्रगुप्त युगीन भारत का निरूपण करवाने वाला कल्पना मिश्रित ऐतिहासिक प्रयोग है। इसकी कथा समुद्रगुप्त के शासनकाल के लगभग (335-340 ई.) की है।

द्विवेदीजी ने 'पुनर्नवा' के कथा निर्वाह के लिये लोकजीवन से 'लोरिकचंदा', 'मृच्छकटिक' व कालिदास की जनश्रुतियों से निर्मित जीवनी व साहित्य से सहायता ली है। ऐतिहासिकता का पुट देने के लिये मथुरा, उज्जयिनी, विंध्याटवी, श्रावस्ती, कुलूत, अहिच्छत्रा नागवंशी और मौधर्य आदि तत्कालीन विविध जातियों व वंशों का उल्लेख भी ऐतिहासिकता के निर्वहन के लिये हुआ है।

कुषाण राज्य के पतन से लेकर समुद्रगुप्त की दिग्विजय तक के समय को ऐतिहासिकता के निर्वाह के लिये लिया है किन्तु द्विवेदीजी ने इतिहास की अपेक्षा लोक में प्रचलित गाथाओं, जनश्रुतियो व संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध ग्रंथो का आश्रय लेकर इतिहास और कल्पना का अद्भुत समन्वय प्रस्तुत किया है। इतिहास में कल्पनात्मक चरित्रों और घटनाओ को बुना है। प्रमुख पात्रों में गोपाल आर्यक, देवरात, शार्विलक, मृणाल मंजरी, चन्द्रा, मंजुला, सुमेर काका, माढण्य व चन्द्रमौलि काल्पनिक पात्र हैं। इन सभी पात्रो से संबंधित घटनाओं को कल्पना के ताने-बाने से बुना गया है लेकिन इससे कहीं भी इतिहास-बोध में बाधा नहीं पहुंची हैं। धूता और बसन्त सेना के माध्यम से गुप्तकालीन संस्कृति की झांकी प्रस्तुत की गई है।

समुद्रगुप्त के सिंहासन पर बैठने के बाद विजय अभियान की घटनाएं, मथुरा उज्जयिनी मे शक शासन और हलद्वीप मे नागवशी भारशिवो के शासन को लेकर कथानक रचा गया है। भारशिव-राजाधिराज वीरसेन के समय से ही हलद्वीप

कान्तिपुरी का अधीनस्थ राज्य है।''[6] ऐतिहासिक प्रमाणो के आधार पर भी मध्य भारत में भारशिवों का आधिपत्य था और राजा चन्द्रगुप्त प्रथम से उनका द्वेप था। 'पुनर्नवा' की कथा हलद्वीप के भारशिव शासक महाराज यज्ञसेन के शासनकाल से प्रारम्भ होती है। यज्ञसेन का राज्य कुशल प्रशासक के नेतृत्व में समृद्ध है और इसमें कला और साहित्य का भी भरपूर विकास हो रहा है। प्रजा सुखी एवं संतुष्ट है। महाराज यज्ञसेन ने भारशिवो और आभीरों के मध्य वैमनस्य को समाप्त कर उन्हें दृढ स्नेह के सूत्र में बाधा था। वे स्वय शैव थे, पर अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णु थे और आभीरों के उपास्य वासुदेव कृष्ण की उपासना को प्रोत्साहित करते थे। उन्होंने भृगु आश्रम का विशाल विष्णु मन्दिर बनवाकर उसमें चतुर्व्यूह विष्णुमूर्ति की स्थापना धूमधाम से करायी थी।''[7] इसके साथ ही इसमें चौथी शताब्दी तक मध्य भारत मे आई नाग तथा आभीर जातियों का उल्लेख भी प्राप्त होता है।

'पुनर्नवा' में ऐतिहासिक चेतना को अक्षुण्ण रखते हुए भारशिवो की चार पीढियों का उल्लेख किया है, इनकी धार्मिक सहिष्णुता एवं सद्शासक के गुणो का बखान करने में द्विवेदी जी ने अवश्य कल्पना शक्ति का उपयोग किया है।

'पुनर्नवा' में सम्राट स्कन्दगुप्त के सेनापति के रूप में भटार्क को चित्रित किया है। भटार्क कर्त्तव्यपरायण, स्वामिभक्त, रण-योद्धा, कुशलनीतिज्ञ एवं सम्राट के सदृश ही धर्म-सहिष्णु एवं नीतिज्ञ नेतृत्वकर्त्ता है। 'पुनर्नवा' में चन्द्रमौलि के रूप मे कालिदास का वर्णन है। द्विवेदीजी ने प्रकारान्तर से कालिदास को समुद्रगुप्त के समकालीन माना है।

'पुनर्नवा' मे चौथी शताब्दी के मथुरा-उज्जयिनी नगरों के ऐश्वर्य को उस काल के कला, साहित्य, धर्म एवं स्थापत्य के उत्कर्ष द्वारा चित्रित किया है। इनके साथ ही हलद्वीप, मथुरा और वटेश्वर तीर्थ का भी पर्याप्त चित्रण किया गया है। वटेश्वर श्रीकृष्ण के दादा महाराज शूरसेन की राजधानी थी और कृष्ण के पिता वासुदेव का जन्म और विवाह भी यहीं हुआ था, द्विवेदीजी का आदर-भाव इस तीर्थ स्थल के प्रति 'पुनर्नवा' में व्यक्त हुआ है।

'पुनर्नवा' में लेखक स्वयं अथवा उसके प्रमुख पात्र ऐतिहासिक घटनाओं की सूचना भी देते है। 'पुनर्नवा' मे चौथी शताब्दी के आरम्भ मे गांधार के सीमान्त पर हूणो के भयंकर आक्रमण और इसका यौधेय देवरात द्वारा विरोध करवाया गया है। देवरात एवं चन्द्रमौलि के विवरण में औशीनरो और रघुवंशों का वर्णन भी हुआ है।

'पुनर्नवा' में ऐतिहासिक साक्ष्य के रूप में प्राचीन साहित्यिक ग्रथों का आश्रय भी लिया गया है। सस्कृत मे शूद्रक द्वारा रचित 'मृच्छकटिकम्' से चारुदत्त, भानुदत्त, बसन्तसेना, मैत्रेय, धूता, रोहसेन, राजा पालक, राजश्यालक, भानुदत्त, आर्यक, दासी-मदनिका, शार्विलक आदि पात्र लिए गये है। 'मृच्छकटिकम्' के अतिरिक्त कालिदास के 'कुमार सम्भव'' एवं 'मेघदूत' से भी कथा संकेतो को ग्रहण किया गया है। 'मालविकाग्निमित्रम्' से उज्जयिनी और विदिशा के प्रसंगो का चयन किया गया है।

'पुनर्नवा' में चन्द्रमौलि के रूप मे कालिदास की हृदयगत अनुभूतियों की अभिव्यक्ति हुई है। इसके अतिरिक्त 'पुनर्नवा' में प्राकृत साहित्य मे रचित साहित्य का भी आधार ग्रहण किया है। द्विवेदीजी ने ऐतिहासिकता के निर्वहन में प्राचीन ग्रंथो का मुक्त हृदय से प्रणयन किया है।

'पुनर्नवा' में जनजीवन में प्रचलित किंवदतियों को यथार्थ धरातल पर प्रस्तुत किया गया है। उपन्यास का प्रमुख आधार ही 'लोरिक-चंदा' और 'लहुरा-वीर' की लोककथा से जुड़ा है। ये कथा छत्तीसगढ़, शाहाबाद, गया, मिरजापुर और बिलासपुर में आज भी कथा सम्बन्धी कुछ अंतर के साथ पाई जाती है। मथुरा की जनभाषा में 'गोपाल आर्यक' का उच्चारण 'गोवाल आरिक' अथवा 'ग्वालारिक' एवं 'ल्वारिक' या 'लोरिक' नाम भी इसी को द्योतित करते हैं, कृष्ण के छोटे पुत्र को व्रज प्रदेश मे 'लहुरा-वीर' के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है। उपन्यास के अन्य पात्रों देवरात, मंजुला, गोपाल आर्यक, श्याम रूप, भटार्क, वृद्धगोप आदि से सम्बन्धित जनश्रुतियाँ भी पाई जाती हैं।

'पुनर्नवा' में द्विवेदीजी ने जनश्रुतियों से एवं इतिहास के विशिष्ट संदर्भों से प्रभाव ग्रहण किया और उन्हें अपनी कल्पना से विशिष्ट आधार प्रदान किया है। जनश्रुतियों से जुड़ी सृजनधर्मिता को वे मानवीय संवेदनाओं और सरोकारों के साथ जोड़ कर प्रस्तुत करते हैं। इनमें मानवीय सम्बन्धों की ऊष्मा सर्वत्र दिखाई देती है। 'मृच्छकटिकम्' के गोपाल आर्यक एवं शार्विलक के बाल्यावस्था की घटनाएं, आर्यक धूता का देवर-भाभी सम्बन्ध, मांदी एवं बसन्तसेना के साथ धूता के सम्बन्धो में भाभीवाद, शार्विलक-मदनिका का प्रेम प्रसंग, हलद्वीप नगरी में 'बसन्त' के उत्सव का उत्साह, मंजुला-देवरात, प्रसंग, सिद्ध बाबा के चमत्कार, वन में आर्यक की अस्त-व्यस्त मन.स्थिति से सम्बन्धित विविध प्रसंगो में द्विवेदीजी की मानवीय आस्था का परिपोषण होता है। आस्था, जिजीविषा, मानवीयता और उदात्त जीवन मूल्यों की स्वीकृति उन्हें सांस्कृतिक बोध का निर्माता प्रमाणित करती है। उनका यह स्वर, उनके उपन्यासो में पूर्णत: प्रस्फुटित हुआ है।

द्विवेदीजी ऐतिहासिक उपन्यास मे कल्पना का आश्रय लेकर उसे अधिक सरस बनाने मे विश्वास करते थे। कल्पना के साथ-साथ वे यथार्थ और आदर्श के समन्वय को भी अपरिहार्य मानते थे।

द्विवेदीजी की पात्र सृष्टि का कलेवर इतिहास सम्मत अवश्य है पर उसमें आत्मा द्विवेदीजी द्वारा ही डाली गई है। इतिहास के भोगवादी-संप्रत्यय को उन्होने महत्त्व नहीं दिया है वरन् परम्परा सिद्ध इतिहास की अभिव्यक्ति ही उन्होने की है।

द्विवेदीजी ने समाज, धर्म, राजनीति, शिक्षा, संस्कृति और तात्कालिक परिवेश से जुडी परम्पराओ का निर्वहन 'पुनर्नवा' में किया है। द्विवेदीजी 'जीवन्त मनुष्य के विकास की जीवन-कथा' में आस्था रखते थे अतएव उन्होने उसी रूप मे परम्पराओं की अभिव्यक्ति भी की है। राजदरबारों और सामन्ती परिवेश के द्योतक बसन्तोत्सव, नृत्य, संगीत, विविध प्रतियोगिताए, शास्त्रार्थ आदि मानवीय उल्लास के ही विविध रूपो मे चित्रित हैं।

द्विवेदजी ने ऐतिहासिक संदर्भो एव लोक कथाओं के प्रणयन में जनभाषा के तद्‌भव और देशज रूपो को एवं अभिजात्य-पात्रों की भाषा के अनुरूप तत्सम् शब्दावली का प्रयोग किया है। देशज भाषा में माधव शर्मा पहले मधौआ और फिर माढव्य के रूप को ग्रहण करता हे। हलद्वीप-हरदुई में, उज्जयिनी में श्रुतिधर का उपाध्यायकुल ओझाउल के नाम से प्रसिद्ध हुआ। मथुरा में बलराम विपुल (बडे) भाई की भूमिका मे 'बुल्ला-वीर' तथा सवसे लघु (छोटे) भाई साम्ब लहुरा वीर के नाम से विख्यात हुए। विपुल और लघु लोकभापा मे 'बुल्ला' और 'लहुरा' बन गए है।

'पुनर्नवा' में चौथी शताब्दी के परिवहन व्यवस्था के मूल–अश्व, ऊँट आदि से सम्बन्धित शब्द भी प्राप्त होते हैं। उस समय घोड़ों की दो प्रजातियाँ–शालि और होत्र थी। शालि शब्द प्राकृत मे आकर 'साल', 'साड़' आदि और पुन· संस्कृत में आकर सात बन गया था। अत: शुरू-शुरू में घुडसवार के लिए 'शालिवाहन' और 'सातवाहन' शब्दो का प्रयोग होता था। दक्षिणापथ मे शालिजातीय घोडों का अधिक उपयोग करने के कारण ही वहाँ के प्रसिद्ध राजवंश को 'सातवाहन' कहा जाने लगा। होत्र-घोट-घोडा के रूप मे होत्र शब्द का विकास हुआ। शाल्यनीक (शालि + अनीकिनी) 'साडनी' बन गया। क्रोश का अर्थ दूर से चिल्लाकर आवाज देना था, जो प्राकृत में घिसकर कोस बन गया।''[8]

द्विवेदीजी ने इन शब्दो के माध्यम से तत्कालीन परिवेश और व्यवस्था को भाषा वैज्ञानिक रूप मे प्रस्तुत किया है।

राजतंत्र व ऐतिहासिक प्रामाणिकता :

ऐतिहासिक पात्रों मे उन्होने प्रसिद्ध सम्राट समुद्रगुप्त को लिया है। समुद्रगुप्त 335 ई के आस-पास मगध के शासक बने। सम्राट समुद्रगुप्त के जीवन-वृत्त की किंचित जानकारी प्रयाग के शिलालेख से मिलती है। इस शिलालेख मे समुद्रगुप्त की सफलताओ और उसके अधीनस्थ राजाओं का उल्लेख है किन्तु उसके सेनानायकों और युद्ध विशेष का विवरण उपलब्ध नहीं है।

ऐतिहासिक साक्ष्य की इस त्रुटि का भरपूर लाभ द्विवेदीजी ने लिया और अपनी कल्पना के सर्जनात्मक प्रयोग द्वारा गोपाल आर्यक को सम्राट का सेनानायक और निकटस्थ मित्र बनाकर प्रस्तुत किया।

समुद्रगुप्त की नीतियो का उल्लेख करते समय वे ''उत्खात प्रतिरोपण'' का जिक्र करते हैं। ''जिसे उखाडा उसी को फिर से रोप दिया। समुद्रगुप्त की यह नीति ही भावी गुप्त साम्राज्य की नीव थी।''[9] किन्तु गोपाल आर्यक के विषय मे यह अपवाद है, उन्होंने हल द्वीप (गगा और महासरयू के संगम पर स्थित क्षेत्र) में भारशिव नागवंशीय राजा रूद्रसेन की सत्ता को हटाकर सिहासन पर अपने निकटस्थ मित्र गोपाल आर्यक को स्थापित किया।

मथुरा व उज्जयिनी को विजित कर लेने के पश्चात् वे पूर्ववर्ती कुषाण राजाओ (धर्मघोष व पालक) के पितृव्य चंडसेन को राज्य सिहासन पर प्रतिष्ठित करते है।

ऐतिहासिक दृष्टि से यह तथ्य पूर्णता सम्मत नहीं माना जा सकता क्योकि

इतिहासज्ञो के अनुसार समुद्रगुप्त ने उत्तर भारत को विजित करने के पश्चात् दक्षिण की ओर अपना कदम बढ़ाया था और उसमें अपने विजय अभियान के क्षेत्र में आने वाले सभी शासकों को विजित कर उनका राज्य उन्हें लौटा, उन्हें अपना अधीनस्थ कर लिया था। उसके पराक्रम व विशाल सेना से भयभीत होकर अनेक राजाओं ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। मालवा नरेश भी उनमें से एक थे अतएव मालवा पर समुद्रगुप्त की सेना का आक्रमण विजय और 'उत्खात प्रतिरोपण' नीति का पालन ऐतिहासिक दृष्टि से संगत नहीं जान पड़ता।''[10]

'पुनर्नवा' मे समुद्रगुप्त के पिता को प्रयाग और साकेत के बीच स्थित किसी छोटे से राज्य का राजा कहा है पर इतिहासज्ञो के अनुसार गुप्त साम्राज्य के संस्थापक श्रीगुप्तजी जो समुद्रगुप्त के प्रपितामह थे, मगध में ही किसी छोटे राज्य के अधिपति थे।''[11]

'पुनर्नवा' में द्विवेदी जी ने 'मृच्छकटिक' और जनश्रुतियों के आश्रय से 'लोरिक चन्दा' की कथा को बुना है। 'लोरिकायन' का प्रेम त्रिकोण-लोरिक मैना और चनवा या चन्द्रा और उपनायक संवरू या शार्विलक ऐतिहासिक पात्रों के रूप मे लोकमानस पर छाये हुए है। सम्भवत: लोरिक अपनी वीरता, सहृदयता और प्रेम आदि उदात्त गुणों के कारण अपने प्रांत का नायक चुन लिया गया होगा। समयानुसार इस कथा मे परिवर्तन होते रहे और इसका इतिहास-सम्मत रूप किंचित् धुंधला होता गया।

द्विवेदी जी ने लोककथा को ऐतिहासिकता के परिप्रेक्ष्य मे देखा है। गोपाल आर्यक या लोरिक अहीर या आभीर जाति का है। ई. पू. प्रथम शताब्दी में ही भारत के पश्चिमी प्रदेशों पर आभीरों के आक्रमण होने लगे थे और महाराष्ट्र के उत्तरी हिस्से गुजरात तथा उसके आस-पास के क्षेत्रों पर उन्होंने आधिपत्य कर लिया था। समुद्रगुप्त के प्रयाग अभिलेख से ज्ञात होता है कि जिन जातियों ने बिना लड़े उसकी अधीनता स्वीकार की थी उनमें आभीर भी थे।''[12]

यही आभीर शुंग-शासकों की सेवा में सम्मिलित होकर कालान्तर मे हलद्वीप निवास करने लगे होंगे। यह हलद्वीप गंगा और महासरयू सरिता के मध्य स्थित है अत. जल के चतुर्दिक व्यापक प्रसार से वह मध्य का क्षेत्र टापू या द्वीप के समान दिखता होगा।''[13] आज भी उत्तर प्रदेश के बलिया जिले में 'हल्दी'नामक गांव विद्यमान है। इसी हल्दी को द्विवेदी जी ने हलद्वीप कहा है। 'लोरिकायन' के लोरिक का जन्म स्थान 'गौरा' नामक स्थान है जो सरयू और उसकी किसी छोटी सहायक नदी वरमइनी के संगम पर अवस्थित है। गौरा भी बलिया जिले में विद्यमान है।''[14]

उत्तरी भारत पर गुप्त साम्राज्य के विकसित होने तक भारशिव नागवशीय राजाओ का प्रभुत्व था, इन्हीं दिनों कुषाण वश अपने शासनकाल के अस्ताचल में था। भारशिव नागवश के इन शासको का राज्य विस्तार विदिशा, पद्मावती, कांतिपुरी और मथुरा तक फैला हुआ था। भारशिव नागवंशो के प्रवर्तक वीरसेन ने कुषाण राजाओ को विजित कर मथुरा को अपने अधीन किया था। समुद्रगुप्त ने नागवंशी राजाओ रूद्रदेव, नागदत्त, गणपति, नाग, नागसेन, नन्दिन सभी राजाओं को परास्त कर उनके राज्य

अपने साम्राज्य में मिला दिये थे।

'पुनर्नवा' के अनुसार हलद्वीप के राजा यज्ञसेन भारशिव नागवंश के थे कांतिपुर के राजाधिराज वीरसेन के सेनापति प्रवर सेन को जय काशी में नवम् अश्वमे यज्ञ के आयोजन का भार दिया गया तो उसके पुराने अनुभवों के आधार पर उन्हों निश्चय किया कि साकेत से पाटलिपुत्र तक कुषाण-नरपतियों का जो भी प्रभा अवशिष्ट रह गया हो उसे समाप्त कर दिया जावे। ..... यज्ञसेन ने समझ लिया था कि आभीरों की सहायता के बिना वे इस प्रदेश में अधिक दिन तक नहीं टिक सकेंगे। इसलि उन्होंने भरों और आभीरों की मैत्री में दरार पैदा कर दी।''[15] यही रूद्रसेन अपने दुर्व्यवह के कारण प्रजा के असन्तोष का कारण बनता है और गोपाल आर्यक समुद्रगुप्त की सेना बल पर उसका राज्य हथिया लेता है, सम्राट आर्यक को हलद्वीप का राजा बनाता है।

इन ऐतिहासिक तथ्यों के प्रकाश में हम द्विवेदी जी की हलद्वीप विषय कल्पना को सर्वथा असंगत नहीं कह सकते, ऐतिहासिक पुट उसमें अवश्य है।

मथुरा का इतिहास प्रस्तुत करते हुए द्विवेदी जी के मत कुछ भ्रान्त से प्रती होते है। एक तरफ द्विवेदी जी इतिहास पुष्ट तथ्यानुसार कहते है कि कुषाण राजाओ ने भारशिव नागवंशीय को परास्त किया। इसी प्रकार समुद्रगुप्त के साम्राज्य का परिच देते हुए वे मथुरा पर ''कुषाण राजा धर्मघोष का राज्य बताते है। उज्जयिनी पर पालक नामक शक राजा को प्रतिष्ठित बताते हुए उन्हीं के सौतेले भाई उपवदात क मथुरा का शासक घोषित करते है।''[16] उज्जयिनी में उस समय पालक शक राजा का राज था। मथुरा में इन्हीं के सौतेले भाई उपवदात राज्य करते थे। दोनों भाइयो परस्पर विश्वास और प्रेम बताया जाता था परन्तु साधारण प्रजा दोनों को म्लेच्छ समझर्त थी और दोनों से असन्तुष्ट थी। प्रजा के धार्मिक और सामाजिक आदर्शो मे विरोध था। दोनो ही राज्यो के सैनिक प्रजा के धार्मिक विश्वासो का तिरस्कार करते थे और आये दिन सैनिकों के अत्याचारो की झूठी सच्ची खबरें उड़ती रहती थीं केवल चण्डसेन के प्रति जनता मे श्रद्धा रह गई थी क्योकि वे प्रजा की भावनाओ क आदर करते थे। मथुरा और उज्जयिनी एक ही वंश द्वारा शासित राज्य थे।''[17]

लहुरा वीर का उल्लेख करते हुए 'पुनर्नवा' में द्विवेदी जी दिमित नामक कुषाण राजा और उसके पुत्र धर्मघोष का उल्लेख करते है इस दिमित या दिमित्र नामक यवन सेनापति का एक संदिग्ध प्राय: उल्लेख मिलता है जिसे सम्भवत: ईसा पूर्व प्रथम शताब्द के लगभग तीसरे चरण मे कलिग के राजा खारवेल ने पराजित किया था।''[18]

'पुनर्नवा' मे 'मृच्छकटिक' की कथा को प्रासंगिक रूप से लिया है 'मृच्छकटिक' के लेखक शूद्रक को कुछ विद्वानो ने कालिदास का समकालीन माना है। इस मान्यता के आलोक में पालक, शार्विलक, चारुदत्त, गोपाल आर्यक आदि को कालिदास के समकालीन माना जा सकता है किन्तु शूद्रक को कालिदास का पूर्ववर्ती मानने प ऐतिहासिक दृष्टि से इसकी असंगति स्वयसिद्ध है। ऐतिहासिक असंगति का एक और उदाहरण राजा पालक के प्रसग मे उभरकर आता है। प्राचीनकाल में उज्जयिनी में पालक ना का एक राजा हुआ जरूर था पर भगवान बुद्ध के समकालीन चद्रप्रद्योत का पुत्र था

और उसे अज्जक या आर्यक ने जो पालक के भाई गोपाल का पुत्र था, गद्दी से हटाया था।''[19] 'पुनर्नवा' में चौथी शताब्दी की घटनाओं को प्रस्तुत किया गया है और 'मृच्छकटिक' के पात्र बुद्धकालीन हैं।

द्विवेदी जी ने मथुरा के वर्णन में पर्याप्त प्रामाणिकता का आश्रय लिया है। मथुरा कृष्ण की नगरी है अतएव वहाँ मन्दिरों और मूर्तियों की प्रचुरता होना स्वाभाविक ही है। मथुरा में यक्षों 'पंचवृष्णिवीरा:'-संकर्षण (बलराम) श्रीकृष्ण, प्रद्युम्न, अनिरूद्ध एवं लहुरा-वीर आदि की उपासना प्रचलित थी।''[20]

द्विवेदी जी ने इनका इतना सम्यक् चित्रण किया है कि इनकी ऐतिहासिकता की यथार्थता को मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है। शार्विलक नामक पात्र का समावेश करके लेखक ने तत्कालीन मल्लविद्या का परिचय दिया है। राजा लोग मल्लों का सम्मान करते थे और उन्हें अपने आश्रय में रखते थे। मल्ल प्रतियोगिताएँ हुआ करती थीं और उसमें अलग-अलग राज्यों के मल्ल सम्मिलित होते थे। इन मल्लो का पराक्रम इनके स्वामियों के लिये गर्व का विषय होता था और किसी राज्य के मल्ल का परास्त होना अन्य राज्य के लिये विद्वेष का विषय होता था।

साधारण जनता इन राजनीतिक विद्वेषों से परे रहती थी। यद्यपि उन दिनो मथुरा के राजवंश में भय और आतंक बना हुआ था तथापि मथुरा की साधारण जनता अपने ढंग से चल रही थी। नित्य नवीन मल्लों के आगमन से बराबर आकर्षण का केन्द्र बनी हुई थी। सरस्वती विहारों में काव्य गोष्ठियों का काम निर्विघ्न चलता रहता था और लाव, तितर, मेष, कुक्कुट आदि की लड़ाइयों की प्रतिस्पर्धा में जनता खुलकर भाग लेती थी।''[21]

राजनीति में साम, दाम, दण्ड, भेद चारों नीतियां प्रचलित थीं। समुद्रगुप्त ने अपने राज्य विस्तार के लिये इन नीतियो का प्रयोग किया था। चण्डसेन के प्रसंग में पुनर्नवाकार इसका उल्लेख करते हुए कहता है–''भटार्क उतना विचलित नहीं हुआ। पिछले अभियान के बीच उसने कितने ही प्रभावशाली राजवंशियों से ऐसे और इससे भी कठोर वाक्य सुने थे और दृढ़तापूर्वक उनको भय दिखाकर वश में किया था। मृदु विनीत भाषा में छंदानुरोध उसका पहला अस्त्र होता था, प्रलोभन दूसरा और कठोर दण्ड की धमकी तीसरा।''[22]

'पुनर्नवा' की ऐतिहासिकता के परिप्रेक्ष्य में इसका महत्त्व अक्षुण्ण है। उपन्यासकार ने तात्कालिक अव्यवस्था, समाज और धर्म के चित्र सम्पूर्ण निष्ठा से खींचे हैं। विदिशा के लोहास्त्र, क्रोश पद्धति द्वारा सन्देश प्रेषण, उज्जयिनी के शक राजा की सेना की प्रकृति शालि और होत्र जाति के घोडे, मिस्र देश मे साडनी द्वारा डाक व्यवस्था का विश्वसनीय चित्र प्रस्तुत करते है। देवीशंकर अवस्थी ने द्विवेदी जी के उपन्यासो में अतीत पर वर्तमान का आरोपण देखा है।''[23]

अस्तु, अपने ऐतिहासिक उपन्यासों के माध्यम से द्विवेदी जी जिन समस्याओ को उठाते हैं, वे चिरन्तन है, कहीं भी उनकी प्रासगिकता में बाधा नहीं पडती।

डॉ. गोपाल के शब्दो में ''वाक्स्फीति प्रसंगान्तर पांडित्य प्रदर्शन, दार्शनिक मनोवैज्ञानिक व्याख्याओं और वक्तव्यों के सब्स्ट्रेशन, आदर्शीकृत पात्र योजना, भावुकता आदि दोष द्विवेदी जी के उपन्यासों में हैं पर ये दोष इतने प्रमुख नहीं। द्विवेदीजी के उपन्यासों में कतिपय दोषों के बावजूद भारतीय इतिहास के कुछ कालखंडो को उनकी सम्पूर्णता में उनके सारे अन्तर्द्वन्द्वों, विरोधाभासों, कमजोरियों और शक्तियों के साथ प्रस्तुत किया है।''[24]

वस्तुतः उपन्यास साहित्य इतिहास के नीरस पृष्ठों से अपनी भावमयता के कारण ही पृथक् है अतएव ऐतिहासिक उपन्यासकार इतिहास की सामग्री लेकर अपनी कल्पना की कूंची से उसका शृंगार करता है। इस प्रयत्न में अगर कहीं ऐतिहासिक त्रुटियां होती है तो वह अक्षम्य नहीं है। कल्पना से 'पुनर्नवा' नित्यनवीन हो उठी है, उसकी प्राणवत्ता बढ गई है और तत्युगीन जीवन के चित्र से इसका आधार और भी सशक्त हो उठा है। चौथी शताब्दी की घटनाओ पर आधारित होते हुए भी इसकी यह प्रासंगिकता अभी तक बनी हुई है। निश्चय ही ऐतिहासिक महत्त्व की दृष्टि से कृति की यह उपलब्धि सराहनीय है।

***

संदर्भ :

1 ऐतिहासिक उपन्यास–रा. गोविन्दजी, संकलित निबन्ध, पृष्ठ-17
2 ऐतिहासिक उपन्यास–रां. गोविन्दजी, संकलित निबन्ध, पृष्ठ-17
3. साहित्य सहचर . उपन्यारा और कहानी, पृष्ठ 83
4. साप्ताहिक हिन्दुस्तान (17 रो 23 जून, 1979) द्विवेदी स्मृति अंक–मनोहर श्याम जोशी को दिए गए इन्टरव्यू से, पृष्ठ 22
5 सारिका–(16 सितम्बर 1979) डा रणवीर रांग्रा को दिए गए इन्टरव्यू से
6. पुनर्नवा–पृष्ठ 37
7. पुनर्नवा–पृष्ठ 37
8 पुनर्नवा–पृष्ठ 155
9 पुनर्नवा–पृष्ठ 99
10. हिन्दी उपन्यास के सौ वर्ष–सं रामदरश मिश्र, संकलित-निबन्ध, पृष्ठ-340
11. हिस्ट्री ऑफ ऐन्सिएन्ट इण्डिया–आर एस त्रिपाठी, द्वितीय सस्करण 1960, पृष्ठ-238
12. हिस्ट्री ऑफ ऐन्सिएन्ट इण्डिया–आर एस. त्रिपाठी, पृष्ठ-245
13 पुनर्नवा–पृष्ठ 11
14. हिन्दी उपन्यास के सौ वर्ष–सं. रामदरश मिश्र, संकलित-निबन्ध, पृष्ठ-342
15 पुनर्नवा–पृष्ठ 34-35
16 पुनर्नवा–पृष्ठ 34
17 पुनर्नवा–पृष्ठ 137
18 हिस्ट्री ऑफ ऐन्सिएन्ट इण्डिया–आर एस त्रिपाठी, पृष्ठ-200
19 हिस्ट्री ऑफ ऐन्सिएन्ट इण्डिया–आर एस त्रिपाठी, पृष्ठ-90-91
20 पुनर्नवा-पृष्ठ 59
21 पुनर्नवा-पृष्ठ 70
22 पुनर्नवा-पृष्ठ 234
23 हिन्दी उपन्यास के सौ वर्ष–स रामदरश मिश्र, पृष्ठ-354
24 रचना और आलोचना–देवीशंकर अवस्थी
25 हिन्दी उपन्यास के सौ वर्ष–सं रामदरश मिश्र, पृष्ठ 356

'पुनर्नवा' का सामाजिक पक्ष

'पुनर्नवा' उपन्यास ऐतिहासिक फलक पर ईसा की चौथी शताब्दी की सामाजिक परिस्थितियों का कलात्मक चित्र प्रस्तुत करता है। तत्कालीन राजनैतिक, शैक्षिक, सांस्कृतिक व धार्मिक, आर्थिक वातावरण के साथ कला एवं साहित्य और सामान्य लोक जीवन के विविध पक्षो का जीवन्त रूप उपन्यास मे प्रस्तुत किया गया है।

चौथी शताब्दी मे सम्राट समुद्रगुप्त के शासन का वर्चस्व था। 'पुनर्नवा' में तत्कालीन सामाजिक मूल्यो, सम्बन्धो के विविध रूपो, वर्णव्यवस्था, जातिप्रथा आदि का सजीव वर्णन है। द्विवेदी जी ने उस युग की उन समस्याओं को उठाया है जो आज भी प्रासंगिक हैं। अपनी सृजनात्मक क्षमता द्वारा द्विवेदी जी ने वर्णाश्रम व्यवस्था, प्रेम के त्रिकोण, अन्तर्जातीय विवाह, स्त्री पुरुष के बदलते व्यवहार प्रतिमानो को मूर्तित कर दिया है। स्त्री पुरुष के विवाहेतर सम्बन्धों को द्विवेदी जी ने सहानुभूतिपूर्वक विचारा है। गोपाल आर्यक, मृणाल, चन्द्रा और चारुदत्त, धूता व बसन्तसेना के माध्यम से द्विवेदी जी ने इन सम्बन्धों के रूप को समझाया है और आपसी सद्‌भाव और स्नेह को प्रेम के त्रिकोण का एकमात्र समाधान बताया है। मांदी व शार्विलक के प्रणय को समाज के बधे हुए संस्कारों की परिधि से छिटकाते हुए प्रगतिशीलता के पथ पर पहुचाया गया है। उनका अन्तर्जातीय विवाह तत्युगीन समाज की महनीय उपलब्धि थी।

'पुनर्नवा' के माध्यम से द्विवेदीजी ने आधुनिक बोध को भी चित्रित किया है। प्रत्येक युग अपने किन्हीं विशिष्ट व्यक्तियो के माध्यम से प्रगतिशील होता है। सशक्त व्यक्तित्व सामाजिक व्यवस्थाओं को अपने अनुरूप निर्मित करते है, इनके प्रयत्नो के फलस्वरूप परिवर्तन होता अवश्य है, जिसे उस युग का सत्य कहा जा सकता है किन्तु यह परिवर्तन आगामी युगों के लिये मार्ग प्रशस्त करता है। 'पुनर्नवा' मे शार्विलक, गोपाल आर्यक, मृणालमंजरी व चन्द्रा ऐसे ही पात्र है। इन पात्रों के अतिरिक्त नारी के विविध रूपों का प्रामाणिक चित्रण 'पुनर्नवा' के माध्यम से ज्ञात होता है। मांदी, चन्द्रा व मृणाल तत्कालीन नारियों का प्रतिनिधित्व करती प्रतीत होती है। सामान्य स्तर पर द्विवेदी जी ने सामाजिक सम्बन्धों, नारी प्रेम विवाह, वर्णव्यवस्था आदि के अनेक रूपो का तार्किक विश्लेपण 'पुनर्नवा' के माध्यम से किया है।

सामाजिक मूल्य :

द्विवेदी जी मूलत सामाजिक जीवन के चितेरे रहे है, उनकी सामाजिकता मानवतावादी चिंतन को आधार बनाकर चली है। उन्होनें औदात्य, गौरव, शालीनता, सौन्दर्य और शोभा के भावो को उतारा हैं। पुनर्नवाकार नैतिक मूल्यों का आग्रही होने के नाते सेवा, आतिथ्य, त्याग, शौर्य, बलिदान आदि स्वस्थ सामाजिक मूल्यों का समर्थक रहा है। ''शोभा और शालीनता की उपेक्षा करने वाले मनुष्य नहीं, असुर हे। शोभा और शालीनता को जो आदर करते हैं और उसकी रक्षा करने मे असमर्थ हैं। वे

कापुरुष है।..... देवता जो शोभा और शालीनता का सम्मान करना नहीं जानते, उन्हें सम्मान करने की बुद्धि दो, और जो सम्मान करना जानते हैं उन्हें उसकी रक्षा करने की शक्ति दो।'' इतना ही नहीं उनका दृष्टिकोण मानव को सामाजिक मंगल का हेतु स्वीकार करता है–''विधाता ने मनुष्य को सामाजिक प्राणी बनाया है। सामाजिक मंगल का उच्छेद करने वाले, विधाता के सहज विधान को नहीं मानते। उनको दण्ड देना मनुष्य का सहज धर्म है। भगवान ने इसलिए कहा था कि सीमित दृष्टि से जो चीज सदोष जान पड़े, वह भी यदि मनुष्य का सहज धर्म हो तो अवश्य करणीय है।''[1] द्विवेदी जी ने नवीन परिस्थितियों के अनुरूप समाज व्यवस्था के परिवर्तन एवं परिष्कार को 'पुनर्नवा' का लक्ष्य माना है।

सामाजिक मूल्यों के समर्थक होते हुए भी द्विवेदी मानवीय आस्था पर दृढ़ विश्वास रखते हैं, उनका यह विश्वास मनुष्य के भीतर देवता का अनुसंधान करने को प्रेरित करता है–''मैं चाहता हूँ, मनुष्य के भीतर जो देवता स्तब्ध बैठा है, जो अन्याय के सामने नहीं झुकता, लोभ और मोह के प्रहारों से जर्जर नहीं होता, शताब्दियों से विषम परिस्थितियो में भी चारित्र्य को, दया को, परोपकार को कसकर पकड़ने में आनन्दित होता है उस देवता को उद्बुद्ध करना। उसके शक्तिशाली होने पर दोष और बाधाए स्वयं परास्त हो जायेगी।''[2]

द्विवेदी जी का मानवतावाद और सामाजिक मूल्यों के प्रति झुकाव ही उन्हे समाज द्वारा हेय समझे जाने वाले व्यक्तियों के भीतर आत्मसम्मान आदि जैसे उदात्त मूल्यों का समावेश कर उन्हें समाज में उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित करता हैं ''एक साधारण किसान जिसमें दया-माया है, सच-झूठ का विवेक है और बाहर भीतर एकाकार है, वह भी बड़े से बड़े सिद्ध से ऊंचा है। चरित्र-बल समस्त शक्तियों का अक्षय भण्डार है। सिद्धियाँ मनुष्य को पशु बना दें, पक्षी बना दें, अजगर बना दें, पर वे मनुष्य को बनाने में तब तक सहायक नहीं होगी, जब तक सहज शरीर धर्मों को ही परम लक्ष्य समझा जाता रहेगा।''[3] 'पुनर्नवा' उपन्यास का तो लक्ष्य ही इन पात्रो को माहिमान्वित करना है। 'पुनर्नवा' ऐसे हीन चरित्र व्यक्तियो की कहानी भी है जो युग-युग से समाज की लांछना सहते आये है किन्तु शोभा और शालीनता की कोई किरण जिनके अन्तर में छिपी रहती है और एक दिन वही किरण ज्योतिपुंज बनकर न केवल उनके अपने बल्कि दूसरों के जीवन को भी आलोकित कर देती है।''[4]

'पुनर्नवा' में इन सभी सामाजिक मूल्यो के केन्द्र मे उन्होने नारी की महत्ता को स्वीकार किया है। 'पुनर्नवा' में परम्परागत मान्यताओ के आलोक मे नारी के प्रणय के विविध रूपो को उभारा गया है और उन्हे युगीन सन्दर्भ देकर मानवीय मूल्यो, मान्यताओ को पुनर्परीक्षण से जोड दिया है।

द्विवेदी जी सामाजिक मूल्यो के प्रबल समर्थक अवश्य है किन्तु इनके प्रति दुराग्रही नहीं है। इन्हे समयानुसार परिवर्तित करने के आकाक्षी भी है। 'पुनर्नवा'

इन्हीं सामाजिक मूल्यों का प्रामाणिक दस्तावेज है।

प्रेम समस्या–

'पुनर्नवा' उपन्यास मूलतः नर-नारी के सम्बन्ध सूत्रों की समाज द्वारा की गई व्याख्या है। द्विवेदी जी सामाजिक मर्यादाओं के भीतर आदर्श प्रेम का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। स्त्री-पुरुष का पारस्परिक आकर्षण उन्हें प्रणय सम्बन्धों में बांध देता है। यह प्रणय आत्मसमर्पण पर स्थित होकर अपने आदर्श रूप को प्राप्त होता है। समाज इन सहज स्वाभाविक प्रणय सूत्रों को मर्यादा, धर्म व न्याय का आश्रय लेकर वहीं दबा देना चाहता है किन्तु यह प्रणय सामाजिक अवरोध का ईंधन पा प्रज्ज्वलित हो धधक उठता है। उसकी इस अग्नि में धर्म, न्याय व नैतिकता के थोथे प्रश्न भस्म हो जाते हैं व उनका निश्छल, पवित्र व उदात्त रूप निखर उठता है।

प्रेम के विविध रूपों व स्तरों को पुनर्नवाकार चित्रित करता चलता है। पुरुष के समक्ष नारी के तीन रूप–गणिका, प्रेमिका एवं विवाहिता कुलवधू के रूप हैं–यथा विविध पात्रों के माध्यम से देवरात-शर्मिष्ठा, देवरात-मंजुला, गोपाल आर्यक-मृणाल, गोपाल आर्यक-चन्द्रा, चारुदत्त-धूता, चारुदत्त-बसन्तसेना, शार्विलक-मांदी, माढ़व्य-ब्राह्मणी, चन्द्रमौलि-राजदुहिता प्रणय के ये विविध रूप विविध मन. स्थितियो व परिस्थितियों की देन है तथा प्रणय के सामाजिक स्वरूप का निदर्शन करते हैं। तृप्त व अतृप्त प्रेम का वास्तविक स्वरूप इनमें दृष्टिगोचर होता है। नर-नारी का पारस्परिक आकर्षण कभी स्थूल भौतिक रूप के प्रति होता है तो कभी मानसिक तृप्ति के प्रति होता है। पुनर्नवाकार ने प्रेम के भौतिक व बौद्धिक दोनो ही रूपो को प्रस्तुत किया है। उनका यह वैशिष्ट्य उनकी सभी कलाकृतियों में झलकता है। प्रेम आत्मनिष्ठ व स्वार्थी न होकर उत्तरोत्तर उदात्त रूप ग्रहण करता हुआ विश्वास में लीन हो जाता है। प्रणयी अपनी आत्मनिष्ठता को सामाजिक उपादेयता के निमित्त त्याग देता है और समष्टि सुख के लिये प्रयत्नशील होता है।

देवरात-शर्मिष्ठा का प्रणय दाम्पत्य-रति का उदाहरण प्रस्तुत करता है। देवरात-शर्मिष्ठा का प्रेम साहचर्यजन्य प्रणय है। देवरात का विवाह माता-पिता द्वारा तय किया गया था ''शर्मिष्ठा, रूप, गुण, शील में सचमुच शर्मिष्ठा थी। देवरात ऐसी पत्नी पाकर कृतार्थ हो गए। दोनों का प्रेम बहुत प्रगाढ था। प्रजा में देवरात और शर्मिष्ठा राम-जानकी की भांति श्रद्धा, प्यार और विश्वास की दृष्टि से देखे जाने लगे।''[5] अस्तु, देवरात-शर्मिष्ठा का प्रेम दाम्पत्य रीति का अनुपमेय उदाहरण है। समाज इस प्रणय को मान्यता प्रदान करता है और इसका उदाहरण मर्यादा के निर्वाह हेतु दिया जाता है।

देवरात-मंजुला का प्रणय सम्बन्ध देवरात के निमित्त क्षतिपूरक रूप मे है। मंजुला हलद्वीप के छोटे नगर की 'नगरश्री' है। वह अपने सौन्दर्य, आचरण, कला एवं स्वाभिमान के लिए प्रसिद्ध है। देवरात अपनी पत्नी शर्मिष्ठा के देहावसान होने पर मजुला मे उसका आभास पाते हैं और शर्मिष्ठा के प्रेम की तृष्णा को मंजुला

के रूप सौन्दर्य व कला के पान द्वारा तृप्त करना चाहते हैं। "तुममें मैंने शर्मिष्ठा को देखा था। हाय देवि, कितनी बार तुम्हें देखकर लगा शर्मिष्ठा ही मिल गयी है।... कितनी बार हृदय ऐसी उछालें भरता रहा है कि मानों कूदकर तुम्हारे हृदय में प्रवेश कर जायेगा, कितनी बार भुजायें ऐसी फड़की हैं कि जैसे संयम के सारे बन्धन तोड़कर तुम्हें कस लेगी, कितनी बार .... कितनी बार।"[6]

मंजुला देवरात के रूप में पहले व्यक्ति को देखती है जिसे उसके रूप सौन्दर्य की अपेक्षा आन्तरिक गुणो का अभिज्ञान है, जिसने उसके सात्विक रूप को उभारा। गणिका रूप मे नारी रूप के दर्शन किये, वह देवरात के इस व्यक्तित्व से अभिभूत हो उठती है, "हाय आर्य, मेरे भीतर देवता भी हैं, यह बात तो केवल तुमने ही देखी है। लोग तो इसमें मिट्टी का ढेला ही खोजते हैं। मैं अपने पाप जीवन से ऊब गई हूं। आर्य, हाय मेरा इस नरक से कभी उद्धार भी होगा।"[7]

देवरात व मंजुला के इस प्रेम सम्बन्ध को समाज स्वीकार नहीं करता और उनका क्षणिक मिलन अनेक अफवाहों व अटकलों को जन्म देता है। अन्ततः यह प्रेम अतृप्त ही रह गया और इसकी परिणति धार्मिक भावात्मकता में लीन हो गयी। देवरात और शर्मिष्ठा का प्रेम आदर्श भारतीय गृहस्थ का प्रेम है तो देवरात का मंजुला के प्रति प्रेम नारी के सौन्दर्य, योग्यता, विद्वता से प्रभावित होकर उसे मानसी प्रतिमा के रूप में स्थापित कर मानसिक स्तर पर किया गया प्रेम है।

प्रेम के त्रिकोण के रूप में गोपाल आर्यक, मृणालमंजरी और चन्द्रा उपन्यास में चित्रित है। आर्यक और मृणाल का प्रेम बालोचित क्रीड़ाओं से पनपता हुआ क्रमश. आयु के साथ-साथ विकसित होता है। गोपाल आर्यक व मृणालमंजरी युवा होने पर भी पारस्परिक आकर्षण का अनुभव करते हैं, आर्यक मृणाल को हलद्वीप में अरक्षित देखकर उसकी रक्षा का वचन देता है और देवरात उसे मृणाल के साथ विवाह-सूत्र में बांध देते है। मृणाल का प्रणय भी साहचर्यजन्य प्रेम है, जिसकी परिणति दाम्पत्य-रति के रूप में प्रस्फुटित हो उठती है।

आर्यक और चन्द्रा का प्रेम पहले मांसल स्तर पर है जो बाद में सेवा, त्याग और बलिदान का ज्वलंत उदाहरण बन जाता है। प्रेम का उत्कट उन्माद, सेवा भाव में पर्यवसित होकर उदात्त रूप अख्तियार कर लेता है। चन्द्रा एक पौरुषहीन पति की पत्नी है। आर्यक का शौर्य उसे प्रभावित करता है और वह अपने प्रणय के उद्दाम स्वरूप द्वारा सामाजिक रूढियों को नकारती आर्यक के पीछे-पीछे जाती है। समाज उसके इस व्यवहार की कटु आलोचना करता है किन्तु उसके समक्ष यह सब बातें तुच्छ व महत्त्वहीन है। "चन्द्रा उद्वेल प्रेम है–प्रेम जो सीमा नहीं जानता, उचित अनुचित का विवेक नहीं रखता जो सदा उफनता ही रहता है। चन्द्रा का प्रेम एक भयकर बुभूक्षा है, एक सतत अतृप्त पिपासा।"[8]

चन्द्रा का यही प्रेम उद्दाम वासना से वात्सल्य के अगाध स्त्रोत के रूप मे

प्रवाहित होता हुआ उसके त्यागमय स्वरूप के साथ एकाकार हो जाता है।

चारुदत्त और धूता का प्रणय भी दाम्पत्य-रीति का ही अनुपम उदाहरण है। धूता का प्रणय वात्सल्यजन्य प्रणय है, ''नख से शिख तक वह मॉ है, पति को भी उसी जतन और स्नेह से रखती है।''[9] धूता की वात्सल्य गरिमा के समक्ष उसकी पति के प्रति एकाधिकार की भावना भी दब गई है। चारु दत्त व धूता का पारस्परिक स्नेह आदर्श गृहस्थ रूप को उजागर करता है। चारुदत्त-बसन्तसेना का प्रणय, सौन्दर्य व कला से प्रभावित होने के कारण है। प्रकारान्तर से जैसे यहाँ नारी का अस्तित्व पुरुष की भोग्या मात्र बनने मे सीमित होकर रह गया है।

शार्विलक-मांदी का प्रणय प्रथम आकर्षण जन्य प्रणय है। शार्विलक का मांदी से परिचय नटमण्डली में रहते हुए होता है। मांदी की सहज लज्जा व सुकुमारता उसके हृदय में प्रवेश कर जाती है और मांदी का पूर्ण परिचय पाकर सहानुभूतिवश स्थिर रूप धारण कर लेता है। मांदी उस युग की शोषित नारी का स्वरूप प्रस्तुत करती है। शार्विलक उसे उसकी दयनीय स्थिति से मुक्त करा अन्ततः उससे विवाह करता है।

चन्द्रमौलि का प्रणय सम्बन्ध वर्गभेद की भित्ति को न तोड पाने के कारण सफल नहीं हो पाता और इस सम्बन्ध की अतृप्ति ही शेष रह जाती है, इसी कारण उसमें विकलता और क्षोभ है, जो समाज की क्रूरता से उपजा है।

माढव्य की हास्य व्यंग्य की फुहारों के बीच उसका आदर्श दाम्पत्य रूप उभरकर आता है। अपनी पत्नी ब्राह्मणी के प्रति प्रणय उसी का परिणाम है।

द्विवेदी जी ने प्रेम सम्बन्धों का विशिष्ट चित्रण किया है। 'पुनर्नवा' की आधारभूत पृष्ठभूमि ही प्रणय की है। अनेक प्रणय सम्बन्धो मे कहीं सामाजिक विधि निषेधो की कील गडी रहती है किन्तु यह कील स्थाई नहीं हो पाती, ''आर्यक और चारुदत्त के प्रसंग में वर्गवैषम्य, देवरात के प्रसंग मे वर्ग और उम्र की विवशता आदि कुछ ऐसे निषेध रहे है जो प्रेम सम्बन्धों की सहजानुभूति में बाधक बने हैं।''[10]

इन निषेधो को पुनर्नवाकार ने स्वीकार नहीं किया है अपितु नवीन मान्यताओं के साथ इनको स्वीकृति प्रदान की है। चन्द्रा व आर्यक के संबंधो को मान्यता दिलाने के लिये सुमेर काका न्यायाधीश के पास जाते है और उन्हें इस विषय पर पुनर्वीक्षण करने के लिये बाध्य करते है। न्यायाधीश पुरगोमिल उनके इस कथन पर गहन चिंतन करते है और साररूप में उनका यह निष्कर्ष होता है कि जिसे आज अधर्म समझा जा रहा है वह किसी दिन लोक मानस की कल्पना से उठकर व्यवहार की दुनिया में आ जायेगा। अगर निरन्तर व्यवस्थाओ का संस्कार और परिमार्जन नहीं होता रहेगा तो एक दिन व्यवस्थाये तो टूटेगी ही अपने साथ धर्म को भी तोड़ देंगी।''[11]

इसके अतिरिक्त सिद्ध बाबा, संन्यासिनी, चारुदत्त, धूता आदि भी इसका समर्थन करते है। इस प्रेम के सबसे कटु आलोचक सम्राट समुद्रगुप्त भी अन्त में इसे

स्वीकृति व प्रतिष्ठा प्रदान करते हैं।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' में प्रेम का उदात्त भावात्मक व अदृत्त रूप दृष्टिगोचर होता है। यहाँ भी निपुणिका बाणभट्ट व भट्टिनी के मध्य प्रेम का त्रिकोण दृष्टिगोचर होता है। 'चारुचन्द्रलेख' में राजा सातवाहन, चन्द्रलेखा तथा मैना के मध्य भी यही स्थिति है। इनका प्रेम कहीं भी मांसलता से युक्त नहीं है अपितु उच्च भावभूमि पर स्थित है। सर्वत्र उदात्त, निश्छल, पवित्र और सरल है। ये सभी पात्र प्रेम के मृण्मय रूप से उसके चिन्मय रूप की ओर उन्मुख होते रहे है। अस्तु, द्विवेदी जी ने अपने उपन्यासों के माध्यम से प्रेम को महानतम व उच्चतम उपलब्धि के रूप में स्वीकार किया है।

प्रेम के अन्य रूपों में पिता-पुत्री सम्बन्ध (मृणाल-देवरात), देवर-भाभी सम्बन्ध (आर्यक-धूता, श्यामरूप-नटिनी स्त्रियाँ, सोमेश्वर-चन्द्रा) भाभी रूप में मृणाल-चन्द्रा-धूता आदि का चित्रण किया गया है।

विवाह समस्या और स्त्री पुरुष सम्बन्ध :

द्विवेदी जी ने 'पुनर्नवा' मे विवाह-विषयक परम्पराओ के गौरव को अक्षुण्ण रखते हुए भी उनकी रूढिबद्धता को नकारा है। परम्परा और आधुनिकता विकास के परस्पर गतिसूचक हैं। सड़े-गलेपन की कट्टरता वहाँ त्याज्य है और वर्तमान सामाजिक नियमों का पुनर्वीक्षण आवश्यक है।

देवरात व मंजुला का प्रणय मानसिक धरातल को छूता है किन्तु मांसल स्तर पर नहीं पहुंच पाता। मंजुला के गणिका होने के कारण समाज उसके विवाह की अनुमति नहीं देता। विवाह न कर पाने की कुण्ठा मंजुला को जकड़ लेती है और वह अपना जीवन निरर्थक मानने लगती है। वह सोचती है कि नारी जीवन की सार्थकता ही आत्म-समर्पण मे है, यही उसकी साधना और तपस्या है, 'साध्वी रमणियाँ' पति का माध्यम पा लेती हैं, वे धन्य है, स्पृहणीय है। पर हाय, गणिका का माध्यम नहीं होता। वह जुगुप्सित भोग के विकट दावानल में झुलसती रहती है। नारी का जीवन किसी एक को सम्पूर्ण रूप से समर्पित होकर ही चरितार्थ होता है। वह अपने देवता को इसी प्रकार पा लेती है। मै कहॉ से यह साधना प्राप्त करती।''[12]

गोपाल आर्यक और मृणाल मजरी का विवाह परम्परागत ढंग से हुआ है। इनके विवाह में भी विघ्न आते हैं। मृणाल मंजरी गणिका पुत्री थी अतएव आर्यक के पिता समाज व जाति के भय से विवाह की अनुमति नही देते तो नवीन रक्त, परम्परा की इस जकडन को नकारता है और समाज व जाति के बिना ही विवाह करना चाहता है। अन्ततः ''वृद्धगोपन को झुकना पडा। वे जानते थे कि उनके कुल परिवार के लोग इस विवाह का समर्थन नहीं करेंगे परन्तु वृद्धावस्था मे वे अपने पुत्र से भी हाथ धोना नहीं चाहते थे। अन्त में यही तय पाया कि आर्यक और मृणाल मजरी का विवाह तुरन्त कर दिया जाये।''[13] विवाह के पश्चात् मृणाल मजरी अपनी गुण सम्पन्नता के बल पर

सबके हृदय में अपना स्थान बना लेती है, "लोग कहते थे कि वृद्धगोप वेश्या लड़की को घर में ला रहे हैं लेकिन अपने शील, सौजन्य और दयालुता से उसने सबका हृदय जीत लिया।"[14] द्विवेदी जी ने यहाँ समाज की रूढ़ियों को बहुत बड़ी चुनौती दी है। व्यक्ति अपने जन्मगत वर्ण से नहीं, कर्मगत संस्कारों से व्यतित्त्व ग्रहण करता है।

आर्यक व मृणाल के विवाह में वर्ग-वैभिन्नय को मान्यता मिली है साथ ही उसमें परम्परागत ढ़ंग भी स्पष्ट लक्षित होता है। मृणाल देवरात की पालित पुत्री होने के कारण सम्माननीय है किन्तु उच्च वर्ग उसे स्वीकार नहीं करता। तत्कालीन वर्ण-व्यवस्था की कठोरता के साथ-साथ उसके शैथिल्य का चित्रण भी प्रस्तुत प्रसग में प्राप्त होता है।

प्रेमविवाह का ही एक और प्रसंग गोपाल आर्यक व चन्द्रा के सम्बन्धों में भी आया है। चन्द्रा आर्यक से प्रेम करती है। उसका प्रेम यौवन के आवेग से परिपूर्ण उद्दाम रूप लिये हुए है। पति श्रीचन्द्र की नपुंसकता और सामाजिको का व्यवहार उसमें कटुता भर देता है और वह खुले रूप से पति की नपुंसकता को लेकर उसे पति मानने से मना करती है और प्रतिकार स्वरूप आर्यक को पति मानती है। चन्द्रा का उद्दाम प्रेम सामाजिक निषेधों की प्रतिक्रिया ही है। सामाजिक उसके इस व्यवहार की निदा करते हैं किन्तु वह उन सब आक्षेपों को बड़े साहस के साथ सहन करती है, "मेरा विवाह मेरी इच्छा के विरूद्ध मेरे पिता ने एक ऐसे मनुष्य नामधारी पशु से कर दिया, जो पुरुष है ही नहीं। मैं उसे अपना पति नहीं मान सकती। हलद्वीप के मुंह में कालिख लगती है तो सौ बार लगा करे। जो समाज इस तरह के विवाह की स्वीकृति देता है, वह अपने मुंह पर कालिख पहले ही पोत लेता है। मैंने आर्यक को अपना पति माना था। वह मेरा था और मेरा रहेगा मैं उसके साथ भागकर कहीं नहीं गई। वह भागा जा रहा था, मैं साथ हो ली थी। फिर कहीं भागा है, उसकी खोज में हूं। मैं आर्यक की पत्नी हूँ और बनी रहूंगी। मैं अपने घर आई हूँ, मैं अगर कुलवधू नहीं हूँ तो ससार में कोई कुलवधू आज तक पैदा ही नहीं हुई है।"[15]

चन्द्रा का यह आचरण सामाजिकों की प्रतिक्रिया स्वरूप है। वह आर्यक के विवाहेतर सम्बन्धों के माध्यम से जैसे अपने अपमान का प्रतिकार करती है।

चारुदत्त-धूता और बसन्तसेना के रूप में भी स्त्री-पुरुष संबंधों के रूप को नया आयाम दिया है। चारुदत्त धूता का पति है और बसन्तसेना का प्रणयी-पात्र है किन्तु उनके सबंधो मे कहीं गिरावट, टकराहट नहीं आती। धूता, बसन्तसेना के अपने पति के साथ, सम्बन्ध को यथावत् स्वीकार कर लेती है। उनके जीवन में कहीं कड़वाहट नही आती। चारुदत्त और बसन्तसेना अपने पारस्परिक प्रणय को उसी रूप मे स्वीकार कर लेते हैं, जिस रूप मे वह है। विवाह के सामाजिक वैध रूप को ग्रहण करने के लिए वे न उत्सुक हैं और न प्रयत्नशील ही। समाज भी उनके इस सम्बन्ध मे मौन है और यही उसकी स्वीकृति भी है। बसन्तसेना के माध्यम से तत्युगीन गणिका की सामाजिक स्थिति व मान्यता

प्रकट होती है, "यहाँ की नगरश्री वसन्तसेना है। सब लोग उसका सम्मान करते हैं, प गणिका का सम्मान केवल छलना होता है। हृदय से उसे कोई मान नहीं देता, सब उस पाने की आशा रखते हैं–'देवात् किमपि न लब्धं, दृष्टि सुखं को निवारयति' वाला भा होता है–भाग्य के फेर से और कुछ नहीं मिला तो दृष्टि-सुख को कौन रोक सकता है गणराज्य जब थे तब थे, उन दिनों गणिका सारे गण की चुनी हुई रानी होती थी परन्तु त भी वह गण की साझे की सम्पत्ति मानी जाती थी, अब तो वह क्रय योग्य दासी बन गई है नाम वही चला आ रहा है, भावना बदल गई है।"[18]

वसन्तसेना प्रेम करने को स्वतंत्र है किन्तु विवाह करने के लिए नहीं। व समाज की सामूहिक सम्पत्ति है।

शार्विलक-मांदी के प्रणय और विवाह के सम्बन्ध में नवीन प्रगतिशी विचारधारा दृष्टिगत होती है। शार्विलक ब्राह्मण पुत्र होते हुए भी मांदी से विवाह कर को प्रस्तुत होता है। मांदी उस युग की शोषित नारी का प्रतिनिधित्व करती है। परिवा द्वारा प्रताड़ित होने पर वह समाज के लिए बिकाऊ हो जाती है। वह किसी प्रका से नटमण्डली में सम्मिलित होती है और वहाँ से वह किसी मध्यस्थ को बेच द जाती है अन्तत वसन्तसेना उसे पाँच सौ सुवर्ण मुद्राओं में खरीद लेती है। शार्विलक उसकी सभी परिस्थितियो से परिचित होकर उसे मुक्त कराता है और उससे विवा कर समाज में प्रतिष्ठित स्थान प्रदान करता है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में निपुणिक का चरित्र इस दृष्टि से मादी से तुलनीय है। विवाह के एक वर्ष बाद ही विधव हो जाने पर वह परिस्थितियों की मारी घर त्याग देती है और बाणभट्ट की नटमण्डली में सम्मिलित हो जाती है। शार्विलक और मांदी का विवाह समाज द्वारा स्वीकृत होता है क्योंकि मांदी भी ब्राह्मण कन्या है। वर्ण व्यवस्था की दीवार यहाँ आडे नहीं आती

चन्द्रमौलि का प्रणय परम रूपवती किसी राजदुहिता से होता है किन्तु यह प्रीति विवाह तक नहीं पहुंच पाती। वर्गवैषम्य के कारण इसमें अवरोध उत्पन्न हो जात है। वह राजदुहिता चन्द्रमौलि के कारण बहुत कष्ट देखती है और उसके अनिष्ट की आशंका से उसे अपने से दूर भगा देती है। सम्भवत: यह राजदुहिता विवाह के न हो जाने की कुंठा लिए मृत्यु को प्राप्त हो जाती है।

'पुनर्नवा' में द्विवेदी जी दाम्पत्य सम्बन्धो के अतिरिक्त भावात्मक सम्बन्धों को स्वीकृति प्रदान करते है। स्त्री-पुरुष वैवाहिक जीवन जीते हुए भी अतिरिक्त वैयक्तिक सम्बन्धो को समाज से जोडकर चलते है, देवरात, चारुदत्त और गोपाल आर्यक के सम्बन्धो का रूप इसी प्रकार का है। इनको अपनी पत्नी के अतिरिक्त अन्य स्त्री मे भी आसक्ति रही है। भावात्मक सम्बन्धो की भावमयता के साथ इनमें अपरिहार्य परिस्थितियॉ भी लगी रहती है किन्तु इन परिस्थितियो के कुहासे से ये पात्र अपने आत्मबल के द्वारा निकलते है। स्त्री-पुरुष के सम्बन्धो मे द्विवेदी जी शरीर की पवित्रता को अनिवार्य नहीं मानते। मादी, बसन्तसेना और चन्द्रा इसके उदाहरण

है। शरीर की पवित्रता की अपेक्षा वे नारी के व्यक्तित्व के सेवाभाव और उसकी मानवतावादी दृष्टि के कायल हैं।

इतना अवश्य है कि द्विवेदी जी के पात्रों की प्रणय-भावना बहुत सहज संभव और सामान्य न होकर असहज, असंभव और विशिष्ट ही है। अहंकार का विगलन, अस्तित्व का विलयन, मनोविकारों से विमुक्ति लगभग योग की सी साधना के माध्यम से प्राप्त हो सकने वाला त्याग, आत्मसंयम और भक्तिभाव सामान्य व्यक्ति या प्रेमिका के वश की बात नहीं लगती। द्विवेदीजी समर्पण भाव के द्वारा सामाजिक सेवा को प्रेम की चरम-परिणति मानते हैं। प्रेमाधारों को पा सकने में असमर्थ देवरात और चन्द्रमौलि या प्रेमिका को अन्ततः पा लेने वाले आर्यक, चारुदत्त या शार्विलक सब के सब दीन-दुःखियों की सेवा और शोषितो के उद्धार का व्रत लेकर जी रहे हैं, समाज सेवा के आकांक्षी है।''[17]

'बाणभट्ट की आत्मकथा' में निपुणिका व भट्ट का प्रेम आत्म-त्याग के सोपानों को छूता हुआ अन्ततः लोक-कल्याण की ओर उन्मुख होता है। निपुणिका भट्टिनी के निमित्त आत्मोत्सर्ग कर भट्ट का हाथ उसके हाथ मे सौंप जाती है। 'पुनर्नवा' के सभी प्रमुख पुरुष व नारी पात्र अपनी प्रकृति से समाजसुधारक है, मानवीयता के अगाध स्रोत को अपने भीतर समेटे है। 'पुनर्नवा' में चन्द्रा व गोपाल आर्यक के प्रेम में आर्यक की पत्नी मृणाल बाधक न बनकर सहायिका ही होती है और अन्ततः आर्यक को चन्द्रा को सौंप देती है। 'चारु चन्द्रलेख' की मैना राजा सातवाहन व चन्द्रलेखा के मध्य दीवार न बनकर उनके मार्ग से हट जाती है। 'पुनर्नवा' के गोपाल आर्यक, शार्विलक, देवरात, चन्द्रमौलि आदि पात्र भी अपने वैयक्तिक कुण्ठा को सामाजिक कल्याण में डुबो देते हैं। शार्विलक व गोपाल आर्यक अपने निजी दुःखों को भूलकर अत्याचारी राजा के चंगुल से प्रजा को मुक्त कराते है। मृणाल भी अत्याचारी राजा के विरुद्ध सिंहवाहिनी व महिषमर्दिनी के रूप मे नारी संगठन तैयार करने को तत्पर होती है।

सौत सम्बन्ध –

'पुनर्नवा' में पत्नी अपने पति के इतर सम्बन्धों के प्रति अनुदार न होकर सहृदय हैं। धूता चारुदत्त की परिणीता होकर भी बसन्तसेना को स्वयं बुलाकर लाड प्यार से अपने वशीभूत कर अपने पति चारुदत्त से मिलाती हैं।

मृणालमंजरी और चन्द्रा का पारस्परिक स्नेह भी सौत-सम्बन्ध की सौहार्द्रयता को ही उजागर करता है। मृणालमंजरी चन्द्रा को अपनी बडी बहन की तरह सम्मान देती है और वह भी उसे अपनी छोटी वहन मानकर उसकी सेवा-सुश्रुषा करती है, ''भावुक नहीं हूंगी, तो क्या हूंगी। जिसे सबने कुलटा समझा और घृणा के साथ देखा उसे तूने केवल अपने मन से ही आदर नहीं किया, राजदरबार मे भी इतना मान दिया, वह निगोडी भावुक भी नहीं बनेगी ?''[18] इतना ही नही जब चन्द्रा को ज्ञात होता है कि मृणाल, आर्यक के साथ इसके पूर्व सम्बन्ध के विषय मे सब जानती है तथा उसके

आवेग से भरे प्रेम पत्रों को भी उसने पढ़ा है, इन बातों के पश्चात् भी मृणाल की सहृदयता उसे अपने वशीभूत कर लेती है, ''मेरी प्यारी बहिन चन्द्रा ने किसी को कष्ट दिया है तो तुझे, अपने प्राणों की टुकडी को। जिस दिन से जाना है कि तू उसे क्षमा कर सकती है, उसको स्नेह दे सकती है, उस दिन से उसकी यह हल्की से पाप भावना भी समाप्त हो गयी है। ..... मै आर्यक के लिये सब कुछ सहने को तैयार हूँ, केवल तेरे मन में कोई अन्यथा भाव नहीं आना चाहिये। मै उस पर अधिकार नहीं चाहती। वह तेरा है और तेरा ही बना रहेगा। पर मै अपने जन्म-जन्म से संगी को चाहूं भी तो कैसे छोड़ सकती हूँ। बोल बहिन, इतनी सी मेरी साध तो तू पूजने देगी न ? तेरे मन में अगर रच मात्र भी कष्ट होगा तो तेरे लिए सिर्फ तेरे लिए, इस साध को मिटा दूंगी। आर्यक के लिए इतना बडा त्याग नहीं कर सकती, पर तेरे लिए हृदय फाडकर रख सकती हूँ। आर्यक के पीछे भागती हू, वह मेरी विवशता है, पर तुझे मै इच्छापूर्वक प्यार करती हूँ। आर्यक को सर्वात्मना चाहती हूं, तुझे उससे भी अधिक सर्वात्मना प्यार कर सकती हूँ। ला बहिन, मंजूर है ?''[19]

'पुनर्नवा' की चन्द्रा को 'सब भावो के भाव महाभाव' के प्रति समर्पित कराते हुए बहु-पत्नीत्व के आगे झुकते हुए एवं उसके उद्दाम एवं प्रखर रूप को मर्यादित करने की चेष्टा की गई है।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' में निपुणिका भट्ट की विवाहिता नहीं है किन्तु उसे जब भट्टिनी के गम्भीर प्रेम के विषय में ज्ञात होता है तो वह आत्मोत्सर्ग के द्वारा इनको प्रणय सूत्र में बांध जाती है। 'चारु चन्द्रलेख' में राजा सातवाहन, चन्द्रलेखा और मैना के मध्य भी यही स्थिति है।

ये नारियां परिणीता होकर भी पति के प्रेम मे सहयोग प्रदान करती है। ''सामान्यत. व्यवहार में यह बिल्कुल असभव लगता है किन्तु धर्म और चमत्कारो की कुछ ऐसी चकाचौंध इन नारी पात्रो के सम्मुख उपस्थित की गई है कि वे इन लोगो की इस मान्यता को कि एक म्यान मे दो तलवार भले ही रह ले, एक प्रेमी की दो प्रेमिकायें नहीं रह सकतीं।''[20] 'पुनर्नवा' की स्त्रिया इस कथन को असत्य सिद्ध करती हैं। मृणालमंजरी चन्द्रा को ही अपने पति के प्रेम की सच्ची अधिकारिणी मानती है, ''दीदी तुमने उनकी सेवा की है। मै अभागिन तो उनके किसी काम नहींआयी। दीदी तुम साक्षात जगदम्बा हो।''[21] इस प्रकार 'पुनर्नवा' मे सौत सम्बन्ध मे द्वेष या कटुता नहीं है अपितु पारस्परिक स्नेह और सौहार्दयता से इन सम्बन्धो की मधुरता का निर्वाह किया गया है।

नारी स्थिति :

द्विवेदी जी का नारी-विषयक दृष्टिकोण कालिदास से प्रभावित है। साथ ही छायावादी काव्य का प्रभाव भी स्पष्ट लक्षित होता है। 'पुनर्नवा' मे नारी-व्यक्तित्व के अनेक पक्षो को उभारा गया है। नारी यहाँ माँ, प्रेयसी, पत्नी और भाभी आदि विविध रूपों मे

दृष्टिगोचर होती है। उनके चारो उपन्यास नारी महिमा का उद्घोष करते प्रतीत होते है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में द्विवेदी जी नारी को देव-मन्दिर के रूप मे देखते है 'चारु चन्द्रलेख' में नारी प्रेरणा शक्ति है। ये नारियां पुरुष का मार्ग-प्रदर्शन कर उसे आदर्श-मार्ग की ओर उन्मुख करती हैं। 'पुनर्नवा' की मृणाल, मंजुला आदि नारियां पुरुष की दिशा निर्देशित करती हैं। 'अनामदास का पोथा' की जाबाला रैक्व को शिष्ट और सुसंस्कृत बनाने में अपना भरपूर सहयोग प्रदान करती है, रैक्व को व्यावहारिक ज्ञान प्रदान करने में जाबाला का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। वह रैक्व को सैद्धान्तिक ज्ञान से ऊपर उठाकर कर्म के क्षेत्र मे प्रवृत्त करती है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की महामाया 'चारुचन्द्रलेख' की चन्द्रलेखा व मैना भी पुरुष की प्रेरणा हैं।

द्विवेदी जी ने जहाँ नारी के महान् व उदात्त रूप को उभारा है। वहीं नारी के उपेक्षित रूप को भी चित्रित किया है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की निपुणिका, 'पुनर्नवा' मे मजुला व बसन्तसेना के प्रति सामान्य लोगो के विचार चन्द्रा के प्रति लांछना व मृणाल के लिए चन्दनक का पत्र आदि इसी स्थिति की ओर संकेत करते हैं। 'अनामदास का पोथा' में ऋजुका भी इसी ओर संकेत करती है। सामान्य नारी की थोड़ी सी झलक नटिनी स्त्रियों के चित्रण मे, स्त्री क्रय-विक्रय के समय दलाल कपोतक के कथन के रूप में, आभीर स्त्रियो की नृत्य मण्डली मे, बसन्त सेना की दासी मदनिका मे एवं गोपाटक ग्राम की स्त्रियों के रास लीला के वर्णन में प्राप्त होती है।

'पुनर्नवा' की मांदी की स्थिति भी उस युग की नारी के महिमामय रूप को धूमिल करती है। मांदी पुरुषों के शोषण की शिकार है। पुरुष प्रधान समाज मे परिवार द्वारा त्यागी जाकर वह विक्रय का उपकरण मात्र बन जाती है। मांदी पुरुषों के शोषण की शिकार है। मांदी की यह स्थिति तत्कालीन समाज की अमानवीय स्थिति की ओर संकेत करती है किन्तु नारी की यह तिरस्कृत स्थिति नारी के उदात्त व महत्त रूप के समक्ष कोहरिल आभासित होती है। देवरात, चन्द्रमौलि, आर्यक, सम्राट चन्द्रगुप्त, शार्विलक, चारुदत्त व सिद्धबाबा सभी प्रमुख पात्र नारी के महनीय रूप की प्रतिष्ठा करते हैं। नारी को सभी ने सदाशयता व सेवा की आलोकमयी दीपशिखा की तरह चित्रित किया है। यही नारी अपने व्यक्तित्व के सत् पक्ष की किरणें विकीर्ण करती हुई पुरुष के जीवन मे प्रेरणा का प्रकाश भरती है। 'पुनर्नवा' सामन्तवादी शासन व्यवस्था के कालखण्ड पर आधारित है। फिर भी उसमें नारी के प्रति शोषण उत्पीड़न का सामन्तवादी दृष्टिकोण नहीं है। इसमें नारी को भोग की सामग्री या मनोरंजन का साधन न मानकर उसके महत्त्व की प्रतिष्ठा की गई है।''[22]

नारी को यहां महिषमर्दिनी और सिंहवाहिनी रूप में देखा गया है। महिषमर्दिनी के रूप में वह अन्याय और आतंक के प्रति [illegible]

[illegible] उपासना के पक्ष मे है, जो महामाया नारी के रूप में पुरुष की प्रेरणा शक्ति है। देवरात नारी के कोमल स्वरूप की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं। वे नारी के

पुरुष रूप की कल्पना कविता में ही स्वीकार करते है। सुमेर काका नारी को दुष्टदलन
आत्मरक्षा में सक्षम देखना चाहते हैं, ''मनुष्य के भीतर जो अभय है, वही देवी
आततायियों को ध्वस्त करना ही नारी का कर्तव्य है। तू पूछना चाहती है कि भैसा अगर
दौड़े तो तेरी जैसी लड़की को क्या करना चाहिए ? तेरे बाप का जवाब है जो कुछ आस
मिल जाये, उसी से उस भैसे को दमादम पीट देना चाहिये। नाक पर मार सको तो
कहना। आख फोड सको तो और अच्छा। सिंह बाद में आयेगा, पहली चोट तुम्हें ही कर
पडेगी।''[23]

नारी के इस प्रखर रूप को पुनर्नवाकार ने स्पृहणीय नहीं माना है। नारी के
कोमलकात प्रेरणास्पद रूप की ओर उसका ध्यान अधिक गया है। नारी-सेवा, त्याग
मानवता व सौन्दर्य की विभूति है। नारी को पुत्री, प्रिया व माता तीनो भावों का
समन्वय करना पडता है। ऐसा करना उसकी विवशता है क्योकि उसे प्राप्तव्य के
त्याग भी करना पडता है, '' ये तीनों भाव नारी की विवशता है। जो विग्रह (शरीर)
विधाता की ओर से उसे मिला है, उसकी विवशता है कि वह तीनों में रमे। उसका
चुनाव स्वेच्छा से चुना हुआ भाव नहीं है। स्वभाव अपने आपको प्रयत्नपूर्वक
पहचानने से समझ में आता है। अपने वास्तविक भाव को जानना कठिन साधना का
विषय है। युवावस्था मे मैने अपने में स्वामिनी भाव पाया था–सब कुछ पा लेने
का, सब कुछ पर अधिकार कर लेने का भाव। एक ही धक्के में वह बालू की भीत
भहरा गयी।''[24]

नारी का प्रखर रूप चन्द्रा में मूर्तिमान हो उठा है। चन्द्रा के प्रसंग मे नारी तुम
केवल श्रद्धा हो, वाली उक्ति बिल्कुल उपयुक्त है किन्तु इन सबके साथ उसमें आधुनिक
बौद्धिकता है। उसमें स्वतंत्र चिंतन क्षमता है अतएव वह पुरातनपंथी विचारों को ज्यों
का त्यों मानने से अपनी स्पष्ट अस्वीकृति देती है। इतना ही नहीं समाज के सभी
लांछनो का सामना बडे साहस और धैर्य के साथ करती है। वह जो कुछ कहना चाहती है
उसे पूरी तार्किकता के साथ कहती है किन्तु कहीं भी मर्यादा का उल्लंघन नहीं कर पाती।
सुमेर काका जब उससे लोकापवादों का जिक्र करते है तो वह उनके चरणों का स्पर्श
कर सम्पूर्ण गरिमा के साथ उसका प्रत्युत्तर देती है, ''मेरा विवाह मेरी इच्छा के विरुद्ध
मेरे पिता ने एक ऐसे मनुष्य रूप धारी पशु से कर दिया था, जो पुरुष है ही नहीं। मै उसे
पति नहीं मान सकती। हलद्वीप के मुंह में कालिख लगती है, तो सौ बार लगा करे। जो
समाज इस प्रकार के विवाह की स्वीकृति देता है, वह अपने मुंह में कालिख पहले ही
पोत लेता है। मैने आर्यक को ही अपना पति माना था, वह मेरा था और रहेगा। मैं उसके
साथ भागकर कहीं नहीं गयी। वह भागा जा रहा था, मै साथ हो ली थी। फिर कहीं भागा
है, उसकी खोज मे हूं। मै आर्यक की पत्नी हूँ और बनी रहूंगी। मै अपने घर आयी हूँ।
मैं अगर कुल वधू नहीं हूं तो संसार में कोई कुलवधू आज तक पैदा ही नहीं हुई।''[25] चन्द्रा
अपने अधिकारों के प्रति सचेत है। वह पुरुष को सम्पूर्ण निष्ठा से समर्पित है किन्तु उसे देवता

मानकर उसकी चरण-वंदना के लिये प्रस्तुत नहीं है। ''सामान्य रूप से कहा जाता है और माना जाता है कि पति देवता होता है, उसकी पूजा करनी होती है। यह बात आज तक मेरी समझ में न आई कि प्रेम में पूजा का स्थान कहॉ और क्या है ? बाबा, मुझे ये विचार भौंडे लगते है। कहोगे बाबा, तो मैं उसके लिए आग में कूद जाऊंगी, पर चरणो में अपने को नहीं उडेल सकती। कुछ और बताओ बाबा, जो मेरे स्वभाव के अनुकूल हो।''[26] ''चन्द्रा द्विवेदी जी के सभी नारी चरित्रो की प्रखरता, तेज, अभिराम सौन्दर्य, दुस्साहस, कर्तव्यनिष्ठा, अप्रतिहत सेवा भाव और अप्रतिम संवेदनापुंज का एकाकार स्वरूप है।''[27]

'पुनर्नवा' में विशेषकर नारी के प्रति अनुदार विचारणाओ को लक्ष्य बनाकर एक तर्कसंगत उदारता का आह्वान है। यहां न उपदेश है न वाग्विलास और न ही तरस खाने वाली दयनीय मुद्रा। द्विवेदी जी की आर्ष-मनीषा ने तप.पूत महात्मा के समान विश्व पुरुष की आद्य शक्ति नारी को अपने भीतर सुप्त, स्तब्ध देवता को पहचानने के लिए प्रेरित किया है। ''यही इसकी सार्थकता है और सास्कृतिक पट पर उकेरी गई लास्य प्रतिमा के समान मनोरम मंगलेच्छा ही इसकी सफलता है।''[28] नारी क्रीडाकन्दुक नहीं है, उसमें भी स्वतंत्र विचार क्षमता है। द्विवेदी जी 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' वाली विचारधारा के कायल है। उनकी मान्यता है कि नारी पुरुष के जीवन की साधना है, उसके बिना पुरुष का जीवन अधूरा है। वह नारायण की स्मित रेखा के समान पवित्र व आनन्दित करने वाली है। द्विवेदी जी के नारी पात्र चिरन्तन नारी की महनीयता का उद्घोष करते है। वे दिव्य आभास से आभासित है इसलिए उनके प्रति कहीं भी दुर्भावना नहीं आ पाती। उनके उपन्यास में गणिकाओ व निम्नवर्गीय नारियो का चित्रण भी उनके सद्गुणों को उभारने के लिए हुआ है, उनकी धारणा है ''स्यारो के स्पर्श से सिह किशोरी कलुषित नहीं होती। असुरों के गृह में जाने से लक्ष्मी धर्षिता नहीं होती। चींटियों के स्पर्श से कामधेनु अपमानित नहीं होती। चरित्रहीनो के बीच वास करने से सरस्वती कलंकित नहीं होती।''[29] अस्तु, द्विवेदी जी के सभी नारी पात्रों मे उदात्त गुणो के दर्शन होते हैं।

वर्ण–व्यवस्था–

वर्ण-व्यवस्था हमारी प्राचीन सांस्कृतिक जीवन का वृहद् व्यापक अंग था। प्राचीन भारत में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्ण थे। वर्ण का निर्णय व्यक्ति की वृत्तियों के अनुरूप होता था, कालान्तर में यह व्यवस्था जन्म के द्वारा निर्धारित होने लगी। ब्राह्मण का पुत्र वृत्तियो के प्रतिकूल होने पर भी जन्मना ब्राह्मण होने लगा।

'पुनर्नवा' मे वर्ण-व्यवस्था के इसी विकृत रूप को उभारा गया है। शार्विलक ब्राह्मण पुत्र है और वृद्धगोप नामक क्षत्रिय के घर पालित पुत्र की तरह रहता है। वृद्धगोप उसे ब्राह्मण कर्म मे पटु बनाने हेतु देवरात के समीप भेजते है और अपने पुत्र आर्यक को मल्लविद्या मे प्रवीण बनाते है।

'पुनर्नवा' में वर्णाश्रम व्यवस्था की चर्चा करते हुए ब्राह्मण को ऊचे स्थान का

अधिकारी बताया गया है। उज्जयिनी में देवरात-श्रुतिधर तथा देवरात-चन्द्रमौलि वार्तालाप से यह तथ्य अधिक उभर कर आता है।''[30] उसमें ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा के पतन तथा पुनरुत्थान दोनो के चित्र मिलते हैं। ब्राह्मण कुमार श्याम रूप के 'संस्कार भ्रष्ट' हो जाने पर उसे पुन: संस्कृत कर दिया जाता है। क्षत्रिय शासन कार्य के लिए होते हैं। आभीर अपने पराक्रम के बल पर शक, हूण आदि विदेशी जातियों के समान क्षत्रिय पद प्राप्त करने के अभिलाषी हैं।

शार्विलक बाल्यावस्था से ही ब्राह्मण कर्म के प्रति विरक्ति रखता है और ब्राह्मण कर्मो में जबरदस्ती डाल दिये जाने पर भाग उठता है। इस प्रकार शार्विलक वर्ण-व्यवस्था की इस विकृति को तोडता है और अपनी रुचि व अभिवृत्ति के अनुरूप ब्राह्मण कर्म की अपेक्षा मल्लविद्या को अपने जीवन का लक्ष्य चुनता है। मल्ल कौशल में अप्रतिम प्रसिद्धि पा लेने पर भी वह ग्लानि अनुभव करते हुए अपने आप को संस्कार भ्रष्ट मानता है। श्रुतिधर के द्वारा उसका कुल पूछे जाने पर उसकी प्रतिक्रिया को 'पुनर्नवाकार' ने इस प्रकार चित्रित किया है ''श्यामरूप को बड़ी लज्जा मालूम हुई उसकी वाणी रुद्ध हो गयी। पिछ्ले कई वर्षो का जीवन आखों के सामने नाच गया। वह वृद्ध के सामने झूठ भी नहीं बोल सका और सच बोलने का साहस भी खो उठा। अपना यज्ञोपवीत दिखाता हुआ केवल यही कह सका ''संस्कार भ्रष्ट हूँ, आर्य !''[31]

वर्ण-व्यवस्था की इसी विकृति की ओर संकेत करता हुआ श्रुतिधर कहता है-''यदि आपने इस ब्राह्मण आचार मे दीक्षित करने के उद्देश्य से क्षिप्तेश्वर महादेव की पाठशाला में न भिजवा दिया होता तो वह नटों की मण्डली के साथ न भागता और कदाचित इतना कष्ट न भोगता। उसके मन में बड़ी कचोट है आर्य।'' [32] देवरात का हृदय शार्विलक की इस स्थिति को अपने रुढ विचारों के कारण समझकर अत्यन्त दु.खित हो उठते हैं और उनके हृदय में विचार मंथन होने लगता है-''हां, श्यामरूप के भटक जाने का कारण क्या उनके यही रूढ विचार हैं ? उन्होंने ही वृद्धगोप को सलाह दी थी कि श्यामरूप ब्राह्मण कुमार है, उसे अपने कुल धर्म के अनुरूप वैदिक कर्मकाण्ड की शिक्षा देनी चाहिए। क्या कुल धर्म और व्यक्तिगत रुचि में विरोध भी होता है ? उन्हे अपने संस्कारों की सच्चाई में कभी सन्देह नहीं हुआ था। आज पहली बार उनके ऊपर कड़ी चोट पड़ी है।''[33]

वृद्ध दम्पत्ति का एकमात्र पुत्र श्यामरूप ब्राह्मणोचित्त शास्त्रचर्चा का पूर्ण निर्वाह न कर पाने व पिता की आकांक्षाओं के अनुरूप न हो पाने के कारण असामयिक निधन का शिकार होता है। शार्विलक के द्वारा अपना परिचय देने पर ''माता हूँ तो ब्राह्मण कुमार ही लेकिन संस्कार भ्रष्ट हूं।'' वृद्धा ने गद्गद् होकर कहा--कोई बात नहीं बेटा ! परमात्मा ने जो तुम्हारे भीतर शक्ति दी है उसी का विश्वास करो, उसी को दीन दु:खियो के कष्ट दूर करने मे उपयोग करो, उसी को अखिलात्मा पुरुष की सेवा में लगा दो।''[34]

'पुनर्नवा' में वर्ण-व्यवस्था की शिथिलता एवं पुनर्प्रतिष्ठा दोनो को ही

स्थान प्राप्त हुआ है। सुमेर काका अपनी व्यावहारिकता के कारण आभीर होने पर भी ब्राह्मण वर्ग के सम्माननीय हैं। चारुदत्त को जन्मना ब्राह्मण होने पर किन्तु वैश्य-वृत्ति को अपनाने के कारण सेठ की उपाधि प्राप्त होती है। गणिकाओं की समाज में अच्छी स्थिति थी, उन्हें पर्याप्त सम्मान प्राप्त होता था। इसके पीछे उनकी आचरणगत शुचिता का हाथ होता था। बसन्तसेना गणिका होते हुए भी अपने शील एवं सौन्दर्य के कारण ब्राह्मण चारुदत्त की प्रेमिका एवं पत्नी बनती है। वर्ण-व्यवस्था की शिथिलता के संकेत 'राजदण्डधर' के उच्च पद पर नियुक्त निम्न वर्ग (शूद्र वर्ग) के सोमेश्वर एवं वीरक सैनिक के चित्रण में मिलते हैं। ये राजा आर्यक की पत्नी को भाभी कहने का अधिकार रखते हैं। कुलीन देवरात भी गणिका मजुला के शील, सौन्दर्य और सद्गुणो के कारण उसकी ओर आकृष्ट है। वस्तुत: ब्राह्मण धर्म ने सहिष्णुता और उदारता के साथ जैन और बौद्ध धर्म के साथ विदेशी आक्रान्ताओं के प्रभाव को समाहित कर लिया था। द्विवेदी जी ने 'पुनर्नवा' में इसे मानवतावादी दृष्टिकोण से देखने का प्रयास किया है तथापि इसमें तत्कालीन पुनरुत्थानवादी उदार ब्राह्मण धर्म का आधिपत्य रहा है, वर्णाश्रम धर्म के उन्नायक के रूप में समुद्रगुप्त की प्रतिष्ठा इसे संकेतित करती है।

'पुनर्नवा' से ज्ञात होता है कि चौथी शताब्दी मे वर्ण-व्यवस्था जन्मानुसार होने लगी थी व किसी भी वर्ण के अनुरूप कर्म को समाज द्वारा स्वीकृति प्रदान नहीं थी किन्तु धीरे-धीरे यह व्यवस्था परिवर्तित होने लगी थी और किसी भी वर्ण का व्यक्ति अपनी इच्छानुसार व्यवसाय चुनने को स्वतंत्र होने लगा था और उसे सामाजिक मान्यता भी मिलने लगी थी। शार्विलक इसका अनुपमेय उदाहरण है।

दासप्रथा–

'पुनर्नवा' में तत्कालीन हेय दास प्रथा को द्विवेदी जी ने मानवतावादी संस्पर्श के साथ प्रस्तुत किया है। विपदा की मारी वधूओं, 'अवमानिता' कन्याओं को 'कहीं न कहीं ठिकाने' लगाने का कार्य धर्म के नाम पर होता था।''[35] मांदी के क्रय-विक्रय को कपोतक एवं जम्मल चौधरी के माध्यम से अभिव्यक्त किया गया है। अंतत: गणिका बसन्तसेना उसे पांच सौ स्वर्ण मुद्राए देकर खरीद लेती है। 'पुनर्नवा' में दासियो के क्रय-विक्रय का चित्रण तो प्राप्त होता है किन्तु पुरुष दासों की स्थिति को चित्रित नहीं किया गया है।

अन्य सामाजिक सम्बन्ध

अपनी जाति के अतिरिक्त अन्य जाति के लोगों को भी सम्मान दिया जाता था और उन्हें भी परिवार के सदस्य की तरह माना जाता था। वीरक इस बात को कहता है–''बडा सुखी था मै भाभी ने तो मुझे कभी यह समझने ही नहीं दिया कि मैं दूसरी जाति का हूं और दूसरे घर का हूं।''[36]

तत्कालीन समाज में ऊंच नीच की भावना विद्यमान थी। इसका उदाहरण भिल्ल जाति के बालको द्वारा प्रस्तुत किया गया है। भिल्ल जाति तत्कालीन समाज

की छोटी जाति मानी जाती थी। इनके आराध्यदेव महाकाल नाथ हैं किन्तु यही देव आभिजात्य वर्ग मे पूजित होने.के कारण भिल्ल जाति के इन पूर्व भक्तों से वंचित हो जाते हैं, ''देवाधिदेव मूल रूप में इन्हीं के देवता हैं लेकिन जो लोग शक्तिशाली हैं, वे अब उन्हें उन्हीं के देवता के मंदिर में जाने नहीं देते।''[37]

'पुनर्नवा' में इन सभी सामाजिक पक्षों के अतिरिक्त नगरवधू की स्थिति मंजुला व वसन्तसेना के माध्यम से प्रदर्शित की है। नगरवधू को उस समय भी विलासिता की वस्तु माना अवश्य जाता था किन्तु यही नगर श्री अपने गुणों व व्यक्तित्व के सत्पक्ष के माध्यम से समाज में सम्मानित स्थान पा लेती थी। राजदरबारों में नगर श्री का विशेष महत्त्व था और राजा उन्हें विशेष अवसरों पर आमंत्रित करता था। प्रस्तुत न होने पर उसे राजकोप का भाजन बनना पड़ता था। मंजुला के संदर्भ में पुनर्नवाकार इसे प्रस्तुत करता है-''राजसभा में उसकी पुकार हु थी। उसे सुधि ही नहीं रही। यथासमय वह अनुपस्थित पायी गयी। राजको अयाचित, अप्रत्याशित रूप से उस पर आ गिरा। देवरात ही उसकी रक्षा कर सकते थे। वे ही राजा को प्रभावित करने में समर्थ थे।''[38]

नगरवधू समाज के लिए स्पृहणीय अवश्य थी किन्तु अपने वैयक्तिक निर्ण लेने के लिए स्वतंत्र नहीं थी। प्रेम और विवाह के लिए समाज उसे अनुमति नहीं देत था। वह इस कुंठा से ग्रस्त अवश्य थी किन्तु अपने प्रणय को विवाह का जामा पहनाये बिना भी वे एकमात्र उसी के प्रति समर्पिता भी थी।

देवर-भाभी व जीजा-साली के सम्बन्ध उन्मुक्त थे। देवर भाभी व जीजा साली के मध्य हास्य व्यंग्य की फुहारें छूटा करती थीं। शार्विलक व नटमण्डली की प्रौढ़ा भाभी, आर्यक-धूता, आर्यक-वसन्तसेना, सोमेश्वर-चन्द्रा के पारस्परिक सम्बन्ध भी इसी आधारशिला पर स्थित है। आर्यक व धूता के पारस्परिक वार्तालाप की किंचित बानगी में यह स्पष्ट हो उठता है, ''शुरू करो देवर, तुम तो भाभी को देखकर ही पेट भर लेना चाहते हो। भर गया है भाभी, इस अभाजन को परिपूर्ण कृतार्थता मिली है........ अब समझ रहा हूं, आर्य चारुदत्त, दिन-रात बिना खाये पिये कैसे टन-टन घूमा करते है। बाप रे बाप, बहू बेचारी तो खिला भी नहीं पाती होगी। भाभी को देखकर ही यह दशा है तो उस बेचारी को तो आंखो ही आंखो पी जाते होगे।''[39]

जीजा-साली का उदाहरण माढव्य की चर्चा द्वारा मिलता है, यह सम्बन्ध भी मूलतः चुहल व छेड़छाड़ की भित्ति पर स्थित है। ''थका मांदा श्वसुर गृह में प्रवेश किया ही था कि छोटी साली मिल गयी। .. सहृदयता का दौरा पूरे चढाव पर था ही। सो मैने उसकी स्तुति शुरू कर दी, हे पूर्ण चन्द्र आननें ! अयि दुग्धमुग्ध-मधुरछविशालिनी, अहो शरच्चन्द्रभरी चिर कोमले इत्यादि। वह खिलखिलाकर हंस पडी। चलते-चलते सिर पर एक चपत भी लगाती गयी। ठीक इसी दिशा मूल मे। मैने कहा अयि आताम्र-पालतरमल्लव कोमलागुले, बडी चोट लगी। साली देवी ने और भी खिल-खिलाकर हसते

हुए कहा, कहाँ ? मैंने कहा, 'हृदय में'। वह अपनी सखियों को बुलाकर कहने लगी- देखो, देखो, जीजाजी का हृदय उनकी चुटिया में है।''[40]

चौथी शताब्दी की ज्वलंत समस्याओं का बडा ही प्रामाणिक विश्लेषण 'पुनर्नवा' में है। ये समस्याये जितनी उग्र व प्रचड रूप मे तब थीं, उतनी ही प्रचण्ड रूप में आज भी है। विमाता का रूप अपने पति की पूर्व सन्तान के प्रति कुछ मनोवैज्ञानिक कारणों से कटु ही रहता है। आपवादिक रूप से यह तथ्य असत्य भी हो सकता है। देवरात की विमाता भी उसके प्रति कटु रहती है, ''उन्हें भय था कि देवरात ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण राजा होगे और उनका पुत्र इससे वचित रह जायेगा। वे नाना प्रकार से देवरात को अपदस्थ करने का उपाय करने लगीं।''[41] देवरात का विवाह होने पर उनकी पत्नी शर्मिष्ठा की उनके प्रति परम आसक्ति देखकर और प्रजा में उनके प्रति श्रद्धा व स्नेह देखकर विमाता द्वेष से भर जाती है और उन्हें वह हूणो के आक्रमण को विफल करने हेतु भेज देती है। अपनी बहू शर्मिष्ठा को चिता जलाकर सती होने के लिये उत्साहित करती है। देवरात ने बड़ी बहादुरी से हूणवाहिनी को ध्वस्त किया लेकिन उनकी विमाता ने झूठमूठ ही बहू को देवरात के मारे जाने का समाचार दे दिया। शर्मिष्ठा को बडा शोक हुआ। कहा जाता था कि उसके शरीर से स्वयं अग्नि की ज्वाला निकली और वह सती हो गयी। पर अधिक जानकार लोगो का विश्वास था कि विमाता ने स्वय चिता सजाकर उसे सती होने को उत्साहित किया था। विजयी देवरात लौटे तो उनका संसार नष्ट हो चुका था।''[42]

विमातायें अपने वैयक्तिक कुंठाओं को पति की पूर्व पत्नी की सन्तानों के प्रति द्वेषपूर्ण व्यवहार से धो देना चाहती हैं किन्तु उनकी यह कटुता देवरात जैसी कितनी ही सन्तानों के जीवन में विरक्ति, कुंठायें और निराशा भर देती हैं। आज भी हम पाते है कि विमाताओं का व्यवहार कहीं कहीं इतना ही विद्वेष भरा है, यद्यपि नयी जागृति इस सम्बन्ध में आयी है और उनका पूर्व पत्नी की सन्तानों के प्रति सहृदयता पूर्वक दृष्टिकोण भी रहा है लेकिन हमारा समाज आज भी विमाता को ईर्ष्या, कटुता और द्वेष का ही पर्याय समझता रहा है।

प्रेम में माता-पिता द्वारा किए गए निषेधों के फलस्वरूप कितनी ही युवतियां कुंठित हो मृत्यु का आलिंगन करती है और कई मार दी जाती हैं। चन्द्रमौलि एक ऐसा ही पात्र है जो अनाथ और दरिद्र होने के कारण अपनी प्रेयसी को न पा सका '' मै बहुत बचपन में ही मातृ पितृहीन अनाथ हो गया था। ऐसे अनाथ-अभाजन को भी कोई प्यार कर सकता है, यह एक विचित्र विधि विधान है। परन्तु ऐसा सचमुच ही हुआ। एक परम रूपवती राजदुहिता ने इस अभाजन को पाने के लिए क्या-क्या कष्ट नहीं सहे ? . . .. मैंने उसे हठ छोड देने को कहा, पर उस समर्पित प्राणी को अपने निश्चय से डिगा नहीं सका। उसके मन मे यह आशंका थी कि उसके घर वाले मेरा अनिष्ट करेगे। वह बार-बार मुझे देश छोडकर अन्यत्र चले जाने को कहती रही। कैसे छोड़ देता महाराज ! पर छोड़ना पडा। सच-झूठ तो नहीं जानता पर उसके घर वालो ने ही बताया कि वह मर

गयी।''[43] ऊंच नीच का भेद समाज में गहन रूप से व्याप्त था और इस कारण प्रेम सफल नहीं हो पाता। प्रेम की यह असफलता कितनी ही युवतियों को मृत्यु का वरण कराती है, अपनी झूठी प्रतिष्ठा की आड़ लेकर अभिभावक अपनी प्राण प्यारी कन्या या वधू की हत्या कर डालते हैं, ''यक्ष भूमि में धर्म संकट से उद्धार पाने के लिये अपनी प्राणधारी कन्या या वधू को मार डालने की घटना तो होती ही रहती है।''[44]

समाज में कुत्सिततायें भी भरपूर थीं। मांदी भी एक ऐसी ही नारी है। मां-पिता की मृत्यु हो जाने पर यह गरीब ब्राह्मण कन्या किसी बात पर घर से निकाल दी जाती है। परिवार का यह विक्षोभ उसे जीवन के कटीले पथ पर एकाकी छोड़ देता है। यहीं से उसके विक्रय का नया दौर शुरू होता है। नटमण्डली में किसी नटिनी के साथ प्रवेश करती है और वहां से ऊंचे मूल्य पर किसी मध्यस्थ को बेच दी जाती है, वहां से पुनः बसन्तसेना गणिका के यहां बेच दी जाती है। नटमण्डली मे प्रौढ़ा भाभी की अनुभवनिष्ठता से ज्ञात होता है कि ''बहुएं विपदा की मारी आ जाती हैं तो उन्हे दुत्कारा तो नहीं जा सकता और इस दल मे कितनी खप सकती हैं ? कहीं न कहीं तो उनको ठिकाने लगाना ही पड़ता है। जो जरा सुन्दर होती हैं उनकी मांग होती है, नहीं होती, वे हमारी तरह काम धन्धा कर पेट पालती है।''[45] विपदा की मारी वधूओं का विक्रय अनुचित नहीं माना जाता और कुल परिवार में उनके लिये कोई स्थान नहीं होता।

दहेज प्रथा–

दहेज प्रथा का किंचित परिचय भी 'पुनर्नवा' के माध्यम से मिलता है। चौथी शताब्दी में दहेज संभवत. माता-पिता स्वेच्छा से देते थे। वर पक्ष की तरफ से दहेज के लिये कोई जोर जबरदस्ती नहीं की जाती थी किन्तु दहेज में बहुमूल्य वस्तुये देने का प्रचलन था। मंजुला अपनी मृत्यु से पूर्व देवरात को अपनी पुत्री मृणालमंजरी के दहेज के लिये लाल चीनाशुंक मे लिपटी हुई प्रतोलिका (पेटी) सौंपती है। देवरात मृणाल के विवाह के अवसर पर उसे सौपता है, ''पहले परत के नीचे एक मुक्ता हार था–मोतियों का एकलरा हार। उसके नीचे पदमराग मणि जडी हुई मुद्रिका थी, जो हाथीदांत के कणों और शंख से बने हुए वलयो के बीच रखी हुई थी। उसके नीचे दो शिरीष पुष्प की आकृति के कर्णावतंस थे, जो महीन हेम गुणों के हार के बीच रखे हुए थे। एक हाथीदांत की छोटी सी डिबिया में पीला सिन्दूर भी रखा हुआ था।''[46]

महामारी–

चौथी शताब्दी के इन सामाजिक पक्षो के अतिरिक्त पुर्ननवाकार ने महामारी से उत्पन्न प्रभाव का भी चित्रण किया है। इस भयंकर महामारी से अनेक व्यक्ति पीडित हुए थे और अकाल मृत्यु से ग्रस्त हुए थे। महामारी से अनेक व्यक्तियो की सम्पत्ति भी अवसरवादियो ने उठा ली थी, अधिकाशंत नागरिक जीवनोपयोगी अत्यन्त आवश्यक वस्तुओ को लेकर नगर त्याग अन्यत्र चले गये थे, '' कोई किसी को पूछनेवाला नहीं था। –किसी मुहल्ले मे प्रत्येक व्यक्ति महामारी का शिकार बना था और कोई-कोई

मुहल्ला एकदम जनशून्य हो गया था। अपने सगे सम्बन्धी भी दूर भागने लगे।''[47]

अस्तु 'पुनर्नवा' चौथी शताब्दी के समाज का यथार्थपरक बिम्ब प्रस्तुत करता है और अतीत को वर्तमान से जोड़कर अद्यतन उसकी प्रासगिकता सिद्ध करता चलता है। 'पुनर्नवा' में जिन समस्याओं को उठाया गया है वे किसी एक युग या व्यक्ति की नहीं है, चिरन्तन हैं, सबकी हैं। व्यक्ति और समाज के सन्दर्भ में व्यवस्थाओ के पुनर्मूल्याकन का प्रश्न उठाकर द्विवेदी जी ने विविध कोणों से उस पर विचार किया है।''[48] 'पुनर्नवा' का विराट फलक इसके लिये सहायक का कार्य करता है। समाज के आदर्श रूप का ही नहीं अपितु उसके कुत्सित और वीभत्स पक्ष का उद्घाटन भी 'पुनर्नवा' में उतनी ही ईमानदारी व निष्ठा से हुआ है।

आर्थिक व्यवस्था–

'पुनर्नवा' में आर्थिक व्यवस्था का स्पष्टत. कोई उल्लेख नहीं है किन्तु तत्कालीन सामाजिक चित्रण के माध्यम से सामन्ती युगीन अर्थ-व्यवस्था का स्वरूप चित्रित होता है। नारी की हेय स्थिति, नारी की खरीद-फरोख्त, दासी रूप में उनका चित्रण तत्कालीन सामन्ती अर्थ-व्यवस्था को ही प्रदर्शित करता है। 'पुनर्नवा' मे आर्थिक व्यवस्था के प्रति कहीं कोई आक्रोश अथवा विरोध का स्वर नहीं है, जिससे प्रतीत होता है कि जन साधारण समुद्रगुप्त की इन आर्थिक नीतियो से सतुष्ट था। 'चारु चन्द्रलेख' उपन्यास में भी गुप्त काल की 'उत्खात-प्रतिरोपण' और 'सामन्त पद' आदि नियम थे, जिनसे तत्कालीन सामन्ती अर्थ व्यवस्था की ही अभिव्यक्ति होती है।''[49]

राजनीतिक व्यवस्था–

'पुनर्नवा' में द्विवेदी जी ने समुद्रगुप्त की 'उत्खात-प्रतिरोपण' पद्धति को भारत की एकता और अखण्डता के लिए आवश्यक माना है। तत्कालीन शासक समुद्रगुप्त सबल क्षत्रिय राजाओ से मित्रता के आधार पर अपने साम्राज्य का विस्तार करते हैं। वह इस हेतु जनशक्ति को भी महत्व देते हैं और उसे साथ लेकर चलते हैं। उस समय उज्जयिनी, मथुरा एवं हलद्वीप में शासको का स्वच्छद व्यवहार एव आचरण नागवंशी मारशिवों, एवं शकों के प्रति जनमानस को आक्रोशित करने के लिए पर्याप्त था। रुद्रसेन, उपवदात और पालक के विरुद्ध भी जनता ने सशस्त्र विद्रोह कर दिया था। ऐसे समय समुद्रगुप्त ने अखण्ड भारत और वृहत्तर समाज के लिए प्रयास किया, जो 'पुनर्नवा' में भी चित्रित है, द्विवेदी जी ने समुद्रगुप्त को एक आदर्श प्रशासक के रूप में चित्रित किया है। सदाशयी, जनमानस का सम्मान करने वाले एव सहिष्णु सम्राट समुद्रगुप्त स्वयं भी अत्यन्त साहसी, उदात्त एव शीलवान हैं। नैतिक मूल्यों और आदर्शों को व्यक्तिगत रूप से निभाने के कारण वे अन्य व्यक्तियों से भी उसी सदाचरण की अपेक्षा रखते है एवं स्वच्छंदतावाद का सर्वत्र विरोध भी ''[50]

समुद्रगुप्त की कुशल प्रशासक शक्ति को बढाने मे उसके सेनापति ''[51]

कूटनीति भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भटार्क कूटनीति के चारों अस्त्रों के प्रयोग में निपुण है, *"मृदु-विनीत भाषा में छन्दानुरोध उसका पहला अस्त्र होता है, प्रलोभन दूसरा और कठोर दण्ड की धमकी तीसरा।"*[50] शकराज चण्डसेन जैसे स्वाभिमानी, साहसी एवं न्याय प्रिय शासक को भी भटार्क 'साम' नीति के प्रयोग से वशीभूत कर लेता है, इस पर चण्डसेन कहता है, "एक विजित राजवश को उच्छिन्न करके उसके किसी सदस्य से मैत्री का अर्थ क्या उसकी स्वाधीनता ले लेना नही है ? और परतंत्र मित्र और दास में अन्तर ही क्या रह जाता है ?"[51] सम्राट समुद्रगुप्त भी धर्मनीति को मानने वाले है अत: वे अपने अधीनस्थ सभी राज्यकुलो को धर्म और नीतिपरक आचरण पर चलने का निर्देश दे, उन्हे उनके राज्यो को लौटते हुए स्वतंत्र कर देते है।

***

संदर्भ :

1 चारुचन्द्रलेख, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ–249
2. चारुचन्द्रलेख, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ–311-312
3. चारुचन्द्रलेख, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ–135
4 पुनर्नवा के फ्लैप की टिप्पणी
5 पुनर्नवा, पृष्ठ–54
6 पुनर्नवा, पृष्ठ–55
7. पुनर्नवा, पृष्ठ–20
8 पुनर्नवा, पृष्ठ–99
9. पुनर्नवा, पृष्ठ–20
10. हिन्दी उपन्यास अंतरग पहचान, डॉ प्रेमकुमार, पृष्ठ–159
11. पुनर्नवा, पृष्ठ–157
12. पुनर्नवा, पृष्ठ–52
13. पुनर्नवा, पृष्ठ–49
14 पुनर्नवा, पृष्ठ–72
15. पुनर्नवा, पृष्ठ–115
16 पुनर्नवा, पृष्ठ–184
17. हिन्दी उपन्यास अतरंग पहचान, डॉ. प्रेमकुमार, पृष्ठ–161
18. पुनर्नवा, पृष्ठ–163
19. पुनर्नवा, पृष्ठ–163
20 हिन्दी उपन्यास : अतरग पहचान, डॉ प्रेमकुमार, पृष्ठ–159
21 पुनर्नवा, पृष्ठ–266
22. हिन्दी उपन्यास : अंतरग पहचान, डॉ प्रेमकुमार, पृष्ठ–160
23 पुनर्नवा, पृष्ठ–41
24. पुनर्नवा, पृष्ठ–184
25 पुनर्नवा, पृष्ठ–114-115
26 पुनर्नवा, पृष्ठ–284

27. साहित्य संगम, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, सं. रामकुमार गुप्त, पृष्ठ–118
28. पुनर्नवा, पृष्ठ–123
29. बाणभट्ट की आत्मकथा, पृष्ठ–123
30. पुनर्नवा, पृष्ठ–148-226
31 पुनर्नवा, पृष्ठ–61-62
32. पुनर्नवा, पृष्ठ–135
33. पुनर्नवा, पृष्ठ–136
34. पुनर्नवा, पृष्ठ–150
35 पुनर्नवा, पृष्ठ–88
36 पुनर्नवा, पृष्ठ–73
37 पुनर्नवा, पृष्ठ–239
38 पुनर्नवा, पृष्ठ–18-19
39 पुनर्नवा, पृष्ठ–194
40. पुनर्नवा, पृष्ठ–106-107
41 पुनर्नवा, पृष्ठ–54
42. पुनर्नवा, पृष्ठ–54
43 पुनर्नवा, पृष्ठ–281
44 पुनर्नवा, पृष्ठ–282
45 पुनर्नवा, पृष्ठ–81
46. पुनर्नवा, पृष्ठ–53
47. पुनर्नवा, पृष्ठ–24
48 हिन्दी उपन्यास . अंतरंग पहचान, डॉ प्रेमकुमार, पृष्ठ–158
49 चारु चन्द्रलेख, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ 405 एवं 407
50. पुनर्नवा, पृष्ठ–237
51. पुनर्नवा, पृष्ठ–257

'पुनर्नवा' का सांस्कृतिक पक्ष

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की रचनाधर्मिता मूलत: सांस्कृतिक बोध से जुड़ी है। इनका साहित्य भारतीय धर्म सस्कृति, परम्परा व इतिहास बोध से जुड़ा है। इन्होंने भारतीय धर्म, सस्कृति, परम्परा व इतिहास का गहन अध्ययन किया है। उनकी रचनाधर्मिता में इन तत्त्वो का सांस्कृतिक भाव-बोध प्राप्त होता है। 'पुनर्नवा' में उनके इस सास्कृतिक भाव भूमि को कई रूपों में व्यक्त किया गया है।

कलाभिरुचि–

चौथी शताब्दी सांस्कृतिक दृष्टि से वैभवपूर्ण थी, इसमें कोई सन्देह नहीं। कला मानवीय जीवन की अद्‌भुत सवेदना है। इसमें मानव की आन्तरिक संवेदनायें बाह्य रूप धारण करती हैं। कोई भी युग अपनी कला और संस्कृति से ही विशिष्ट कहलाता है। 'पुनर्नवा' कालीन समाज के लोग चित्रकला, भित्ति चित्रो के अंकित करने मे कुशल थे। सामान्य जन का भी इन कलाओं के प्रति रुझान था और वे इन कलाओं को आदर की दृष्टि से देखते थे। मन्दिरों व मठों की स्थापत्य-कला अनुपम होती थी, इतना ही नहीं मन्दिरों को भित्ति-चित्रो से अलंकृत किया जाता था। विविध वाद्य-यंत्र हुआ करते थे, विविध अवसरो पर जिनका प्रयोग किया जाता था। देवरात उस काल के सास्कृतिक प्रतिनिधि के रूप मे सामने आते है, ''वे संस्कृत और प्राकृत के अच्छे कवि और वीणा, वेणु, मुंरज और मृदंग जैसे विभिन्न श्रेणी के वाद्य यंत्रो के कुशल वादक भी थे। चित्र कर्म मे भी वे कुशल माने जाते थे। यह प्रसिद्ध है कि क्षितेश्वरनाथ महादेव के मन्दिर के भीतरी भाग मे जो भित्ति क्षेत्र बने थे, वे देवरात की ही चमत्कारी लेखनी के फल थे। हलद्वीप के राजपरिवार में उनका बडा सम्मान था।''[1]

'नृत्यकला' तत्कालीन सांस्कृतिक जीवन की प्राण संवेदना थी। नृत्य मे सामान्य जनों की अभिरुचि थी और उसे भक्ति व आनन्द रस का मूर्तिमान रूप ही कहा जाता था। नृत्य कला की ज्ञाता होने के कारण गणिका भी समाज मे प्रतिष्ठा पाये हुए थी। साधारण लोगो के परस्पर वार्तालाप द्वारा पुनर्नवा मे उसे व्यक्त किया गया है, ''बसन्तसेना कलानिधि है। मैने उसका नृत्य महाकाल के मन्दिर में देखा है। उसके एक-एक पद निक्षेप मे शोभा बरसती है। विधाता ने उसे अद्‌भुत कण्ठ दिया है। आलाप लेती है, तो वायुमण्डल कांप उठता है। अन्तरतर से निकले हुए शब्दो से पत्थर पिघल जाते हैं। भक्ति तो मानो उसका रूप ही है।''[2]

नृत्य के सूक्ष्मतम हाव-भाव से लोग परिचित थे। मंजुला के भावाकुल नृत्य को देखकर सभा मंत्र-मुग्ध हो उठती है, ''उसकी नृत्य-भंगिमा से नाना स्थिति की भाव-मुद्राएं अनायास निखर उठी थीं। उसके कन्धे के नीचे मृणाल कोमल भुजयुगल सग्रहित द्विपदी खण्ड के समान भाव परम्परा में वलयित हो उठते थे। वस्तुत. पूर्वानिल के झोको से झूमती हुई शतावरी लता के समान उसकी सम्पूर्ण देहवल्लरी ही

भावोल्लास की तरंग से लीलायित हो उठी थी। ऐसा लगता था, वह छन्दों से ही बनी है, रागों से ही पल्लवित हुई है, तानों से संवारी गई है और तालो से ही कसी गई है।''[3] मंजुला के तालों व छंदों से युक्त उदात्त नृत्य का आस्वादन सभा एकाग्रचित्त से मन्त्र-मुग्ध होकर करती है।

नृत्य के लिये इतना ही पर्याप्त नहीं है। नृत्य वही श्रेष्ठ माना जाता था जिसमें, नर्तक आत्मस्वरूप को विस्मृत कर, नृत्य के भावो मे स्वय को लीन कर ले क्योंकि नृत्य मनोरंजन का साधन ही नहीं अपितु महाभाव की प्राप्ति का माध्यम भी है, ''छलित नृत्य मे नर्तक या नर्तकी को उन भावो का स्वय अनुभव सा करना चाहिये जो अभिनीत हो रहे है। इसी को भावानुप्रवेश कहते है। दूसरों के द्वारा प्रकट किये हुए भाव में स्वयं अपने को प्रवेश कराने का कौशल।''[4]

'बसन्तोत्सव' के समय नगरश्री के नृत्य-कौशल का प्रदर्शन होता है। देवरात मंजुला के नृत्य में 'भावानुप्रवेश' की कमी पाते है। बसन्तसेना 'भावानुप्रवेश' की 'अधिष्ठात्री देवी' है।''[5] पुनर्नवाकार के मंजुला, बसन्तसेना और मृणाल के नृत्यो के वर्णन से, उनके नृत्य कला के ज्ञान एवं नृत्य के प्रति उनके रागात्मक दृष्टिकोण का ज्ञान प्राप्त होता है। 'पुनर्नवा' में भरतमुनि के नृत्य सम्बन्धी आदर्श को एवं सात्विक भावो के अभिनय को महत्त्व दिया है।

तत्कालीन समाज में अनेक प्रकार की नृत्य-साधनायें प्रचलित थीं। इन नृत्य साधनाओ में सबसे विकट व मनोहर नृत्य था कसादिगुरु नृत्य। इस नृत्य के साथ श्रीकृष्ण व कालिय नाग की कल्पना जुडी हुई है। यह नृत्य मथुरा का वैशिष्ट्य है ''भगवान श्रीकृष्ण ने कालिय नाग के सहस्त्र फणो पर विकट नृत्य किया था। उसकी विशेषता यह थी कि नाचने वाला बालक जानता ही नही था कि वह भयंकर मृत्यु के फूत्कारों से घिरा हुआ है, वह खेल रहा था, सहज भाव से और मृत्यु का भीषण विग्रह कालिय नाग अपने विकराल फणमण्डल के साथ चूर-चूर होता जा रहा था। वह पूर्ण रूप से जीवन के उगते अंकुर को विदारण करने पर तुला हुआ था और जीवन था कि किलकारी मारकर थिरक रहा था। बसन्तसेना ने भगवान कृष्ण बनकर उस विकट मनोहर नृत्य को उजागर किया था।''[6]

उस समय की गणिकाएं गीत रचना में पारंगत थी। मंजुला दोहा छन्द को ग्राम्य भाषा में सुनाती है।''[7] बसन्तसेना महर्षि द्वैपायन के श्लोक को तत्काल लोकभाषा में रचकर उसे छन्द, ताल एवं लयबद्ध कर देती है। उसमें आशु कवित्व भी है।''[8] गणिकाएं संस्कृत, प्राकृत और देशज–तीनो ही प्रकार के गीत अवसर के अनुकूल गाया करती थीं।

चित्रकला का भी पर्याप्त प्रचार था और उसके भाववादी एवं प्रतीकवादी रूप प्रचलित थे। मंजुला ने पुत्री मृणाल के लिए कल्प-वल्लरी चित्रित की, जिसमे उसके मातृत्व की अनुभूति स्पष्टत. उजागर होती है।''[9] इन चित्रो मे भारशिवो का प्रभाव स्पष्टत

अंकित हैं। चित्रकार देवरात के चित्र भी तत्कालीन समृद्ध चित्रकला-कौशल के प्रतीक हैं।

मथुरा के प्रसंग मे मूर्तिकला के चित्रण मे यक्ष-मूर्तियों का चित्रण किया गया है। अश्वत्थ वृक्ष के नीचे मणिभद्र यक्ष की विशाल मूर्ति एवं 'पंचवृष्णिवीरो' के मंदिर में वैष्णव धर्म की अभिव्यक्ति प्राप्त होती है। मृणाल मंजरी द्वारा गोपाटक ग्राम में त्रिभंगी गोपाल कृष्ण की मूर्ति उपासना के प्रसंग में मूर्तिकला सम्बन्धी सूक्ष्म निरीक्षण लेखक ने प्रस्तुत किया है।''[10] इस काल में शिल्प कला के क्षेत्र में विदेशी जातियों का प्रभाव भी दिखाई पडने लगा था।

उत्सवप्रिय जनता बसन्त के आगमन पर रागरंग मे डूब जाती थी और इस अवसर पर विविध प्रतियोगिताओ का आयोजन हुआ करता था, '' उस दिन राजा स्वय इन उत्सवो का नेतृत्व करते थे। कई दिन तक नृत्यगीत के साथ अक्षर च्युतक, बिन्दुमती, प्रहेलिका आदि की प्रतियोगिताएं चलती थी, न्यास और व्याकरण के शास्त्रार्थ हुआ करते थे, कवियो की समस्यापूर्ति की प्रतिद्वन्द्विता भी चला करती थी और देश विदेश से आए हुए प्रख्यात मल्लों की कुश्तियां भी।''[11]

चन्द्रमौलि की कविता तत्कालीन काव्य रूप का उद्घाटन करती है। चन्द्रमौलि की कविता उसके हृदय के उद्‌गार हैं, ''मेरे चित्र मे निश्चय ही कोई व्याकुल वेदना है, जो मुझे मथित करती है, आन्दोलित करती है और विह्वल बनाती है। श्लोक लिखना शुरू किया था। उस समय मे समझता था कि विभ्रम और विलास का मादक वर्णन ही कविता है। यह समझकर मन ही मन में उत्फुल्ल होता था कि मै श्रृंगार रस का उद्‌गाता कवि हूं। परन्तु उन दिनों मुझे नहीं मालूम था कि प्रकृति के कण-कण में एक अद्‌भुत वेदना विलसित हो रही है। मैं जब निर्झर को वेगपूर्वक नीचे की ओर दौडता देखता हूँ तो मन रो उठता है, कितनी व्याकुलता है इसमे ? किससे मिलने के लिए यह दुष्कर अभिसार यात्रा शुरू हुई है ?''[12]

कविता केवल शुद्ध श्रृंगार ही नहीं है। मानवीय भावो और प्रकृति के साथ सच्चा तालमेल ही कविता है। जब तक मनुष्य प्रकृति और मानवीय सवदेनाओं के साथ एकाकार नहीं होगा तब तक काव्य केवल ढोंग और प्रवंचना ही कहीं जायेगी। ''क्या यह सारा आयोजन केवल बात की बात है ? क्या इसका कोई प्रयोजन नहीं है और दूर की बात छोडो मेरे ही मुंह से जो अजस्त्र श्लोक धारा उमडती है, उसी का क्या उद्देश्य है ? यदि वनस्थली के पुष्प पल्लवो का सम्भार निरर्थक नहीं है तो इस श्लोक धारा का भी कोई उद्देश्य होना चाहिये। कौन है जो इस वाग्धारा का लक्ष्य है।''[13] चन्द्रमौलि मे सच्चे व ईमानदार कवि का रूप मुखरित है किन्तु तत्युगीन समाज मे राजस्तुति कर स्वय को कवि कहलाने वालों की भी कमी नहीं थी। माढव्य विदूषक होने के नाते राजदरबार के सभी तौर तरीको को जानता है और चन्द्रमौलि को मूर्ख बताते हुए उसको धन कमाने और राजकवि बनने के नुस्खे बतलाता है ''पहला काम करना

होगा उज्जयिनी में चलकर राजा की स्तुति करना, बढ़िया श्लोक बनाकर। बाकी मैं देख लूंगा। और देखो, वह जो व्याकुल वेदनावाली बात है न, उसे मेरे जैसे मूर्खों को मत बताना। उज्जयिनी मे उनकी सख्या कम नहीं है। .... वहां जुगाली करने वाले ही भरे पड़े हैं। माढव्य अगर मूर्ख है तो राजसभावाले बैल है। ये सब बाते उसी से कहना जो तुम्हारा समान धर्मा हो। सबसे कहते फिरोगे तो पागल करार दिये जाओगे।''[14] इस प्रकार जहां समाज में श्रेष्ठ कवि भी थे, जो प्रसिद्धि से पर्याप्त दूर थे तो ऐसे भांड भी थे, जो कविता को महज खिलवाड़ समझते थे।

राजनैतिक उथल-पुथल से सामान्य जनता को विशेष रुचि नहीं थी। उनका जीवन प्रवाह उसी क्रमानुसार चलता रहता था। ''नृत्यगीत का आयोजन होता था। मल्लशालायें नित्य नवीन मल्लों के आगमन से बराबर आकर्षण का केन्द्र बनी हुई थी। सरस्वती विहारों में काव्य गोष्ठियों का काम निर्विघ्न चलता रहता था और लाव, तित्तिर, मेष, कुक्कुट आदि की प्रतिस्पर्द्धा में जनता खुलकर भाग लेती थी।''[15]

चौथी शताब्दी का सांस्कृतिक वातावरण समृद्ध था और जनता भी उत्सवप्रिय थी, संभवत: यही कारण है कि विविध कलाओं को विकसित होने का अवसर मिल सका। तत्कालीन वेशभूषा का चित्र माढव्य व चन्द्रमौलि के रूप चित्रण के साथ प्राप्त होता है। माढव्य एक ठिगने कद का गोल मटोल शरीर वाला था। उसके शरीर पर यज्ञोपवीत इस प्रकार दिखाई दे रहा था, जैसे किसी बबूल के पेड़ पर मालती की माला आड़ी करके डाल दी गई हो। उसके दाहिने कन्धे पर एक पीला उत्तरीय था और कमर में पंचकक्ष अधोवस्त्र बंधा हुआ था। एक हाथ मे एक छोटी सी पोटली थी जिसमें पता नहीं क्या-क्या बंधा था। ..... उसके ललाट पर त्रिपुण्ड की धवल रेखाएं पसीने से बुरी तरह क्षत विक्षत हो गयी थी। सिर घुटा हुआ था, किन्तु पीछे की ओर एक मोटी सी चोटी भी लटक रही थी। उसके साथ चलने वाला बहुत ही सौम्य प्रकृति का जान पड़ता था। उसका कद लम्बा था, शरीर गौरवपूर्ण था और पहनावे मे कौशेय उत्तरीय और कौशेय अधोवस्त्र भी थे। .... शिखा में, गले में और बाहु मूल मे उसने मालती की माला धारण कर रखी थी। उसके हाथ में एक वेत्रयष्टि थी। उत्तरीय को उसने बड़ी रुचि के साथ चुन्नट देकर सजाया था। उसके पास कोई गठरी नहीं परन्तु कन्धे पर एक ऐसा झोला लटक रहा था, निश्चय ही उसने उसमे यात्रा के सम्बल रूप कुछ पाथेय रखे होंगे।''[16]

तत्कालीन समाज में पत्र प्रेषण भी होता था। पत्र कागज के स्थान पर भुजपत्र पर लिखा जाता था और कलम के रूप मे शलाका व काजल की स्याही अथवा लाल चमकदार रंग की स्याही प्रयुक्त की जाती थी, '' यह तो मंजुला की मनोहर आखो में काजल लगाने वाली शलाका है। सारा पत्र काजल को ही स्याही बनाकर लिखा गया था। उनके मुंह से अनायास निकल पडा विच्छित्तिशेषै· सुरसुन्दरीणाम्–सुर सुन्दरियो के प्रसाधन के बाद बचे हुए सिगारदान के रंग से।''[17] मंजुला द्वारा प्रदत्त प्रतोलिका

मृणाल को नारी का महिषमर्दिनी रूप काम्य है ताकि वह नर रूप मे स्थित असुर से सुरक्षा कर उसका संहार कर सके। देवरात नारी के सिंहवाहिनी रूप को श्रेष्ठ मानते है। धर्म वह भी नहीं है, जो सिद्धों और मठाधीशों की उपासना कर प्राप्त होता है। हाथ की लकीरें देखकर भविष्य बताने वाले भविष्य के तांडवों पर उनका किंचित विश्वास नहीं है। सुमेर काका मृणाल से यही बात कहते हैं,-"पर मुझे इन सिद्धों पर रंचमात्र भी विश्वास नहीं है। तेरा काका तो उतना ही मानता है, जितना कि मानने योग्य होता है। भूतकाल कोई बता दे, यह तो मेरी समझ में आ रहा है, पर भविष्य कैसे बतायेगा ? जो दावा करता है कि वह भविष्य बता देगा, वह ढोंगी है।"[26]

मानव शरीर शिव और शक्ति-तत्त्व के समन्वय से बना है और यही दोनो तत्व पुरुष और नारी के रूप में विद्यमान हैं, "देवता और शास्त्रों को नष्ट करने वाले विचार कैसे नष्ट होंगे, यदि पुरुष ने तपस्या द्वारा नारी को प्रसन्न करने का यत्न नहीं किया ? पुरुष उद्धत पौरुष बल पर भरोसा करता है और मोहन आनन्ददायिनी शोभा और चारुता का तिरस्कार करता है। वह उसे भोग की सामग्री समझता है। मनोरंजन का साधन मानता है, अपना आश्रित समझकर उसके साथ अवांछनीय व्यवहार करता है। नतीजा जो होना चाहिये वह हो रहा है। धरती मदमत्त पौरुष से कसमसा उठी है, उद्धत सैन्य शक्ति के पदचाप से शेषनाग का फणमण्डल व्याकुल हो उठा है। सर्वत्र केवल मार-काट, लूटपाट, नोच खसोट का बवण्डर आसमान को रजोलिप्त बना रहा है। प्रकाश की कहीं क्षीण रेखा भी नहीं दिखाई दे रही है।"[27] पुरुष और नारी तत्त्व का सही सन्तुलन ही धर्म है, इसी धर्म के बल पर धरित्री सुख का अनुभव कर सकती है।

धर्म में यज्ञ आदि क्रियाये भी सम्मिलित थी। मूर्तिपूजा होती थी और लोग इन मूर्तियों की प्रदक्षिणा व उन्हें प्रणाम करते थे। व्यापारी, समुद्र देवता मणिभद्र यक्ष को अपना आराध्य मानते थे और व्यापार पर जाने से पूर्व वे इनकी मूर्ति से आशीर्वाद लेते थे, "नगर के सेठ लोग व्यापार के लिये जब बाहर जाते हैं, धन कमाकर जब बाहर से लौटते हैं, तो मणिभद्र यक्ष की पूजा बड़ी धूमधाम से करते हैं।"[28]

समाज के कुछ व्यक्ति जब उदात्त स्तर पर पहुंच जाते है तो देवता के रूप में आराध्य बन जाते हैं 'लहुरावीर' भी लोकमानस के उदात्त स्तर पर पहुंचे हुए ऐसे ही आराध्य देव हैं, संकर्षण (बलराम), वासुदेव (श्रीकृष्ण), प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ये चार प्रसिद्ध वृष्णिकुल वीर थे, इन्हीं के साथ लहुरावीर भी जोड़ दिये गये। ये प्रतापी वीर पुरुष थे और शौर्य के देवता के रूप मे प्रतिष्ठित थे "लहुरा वीर साम्ब हैं। कहते है, शक लोग इन्हीं के प्रताप से विजयी हुए थे। .... लहुरा वीर जागृत देवता है। भद्रसेन के सैनिको ने लहुरा वीर का जय जयकार करते हुए कुषाणराज दिमित को इस प्रकार ध्वस्त कर दिया जैसे प्रचण्ड आंधी पेड़ो को उखाड़कर फेंक देती है।"[29] इस प्रकार 'पुनर्नवा' में धर्म के विविध रूप प्रदर्शित हैं।

उपन्यास में गुप्तकाल के नव-ब्राह्मण पुनरुत्थान की धार्मिक दार्शनिक

मान्यताओं को भी प्रस्तुत किया गया है। यौधेय देवरात इस उदारवादी नव-ब्राह्मण पुनरुत्थान के प्रतिनिधि के रूप में चित्रित किये गये हैं। देवरात के जीवन में बौद्धों के संन्यासवाद, ब्राह्मण गृहस्थ तथा वानप्रस्थ आश्रम और भागवत धर्म का मिश्रण दिखाई देता है। गुप्त सम्राटों में भागवत् धर्म के रूप में 'अस्वीकृति के स्थान पर परिपाक, संघर्ष के स्थान पर समन्वय' का गुण था।''[30]

इस काल में बुद्ध को भी विष्णु के दस अवतारों में मान लिया गया था। मथुरा नगरी को 'पुनर्नवा' में बौद्ध, भागवत, जैन एवं शैव धर्मों का केन्द्र बताया गया है।

'पुनर्नवा' में भाग्यवाद, नियतिवाद, जन्म-जन्मान्तरवाद, कर्मफलवाद एवं दैव-वाद को चित्रित किया गया है। उपन्यास का पूरा कथानक ही विचित्र 'सयोगों' से गूंथा हुआ है, किसी 'महा-अज्ञात' विधाता के संकेतों से ही पात्र कर्मण्य हुए प्रतीत होते हैं। विश्व में जो कुछ घटित हो रहा है, वह उस महाकाल की लीला का ही प्रभाव है।

जन्म-जन्मान्तर के प्रभाव को चन्द्रमौली-माढव्य प्रसंग में देखा जा सकता है। चन्द्रमौलि माढव्य के साथ रहकर न जाने किस जन्मान्तर के पुण्य के सुख का अनुभव करता है। वह उसे पूर्व जन्म का सुहृद मानता है।''[31]

'पुनर्नवा' के सभी प्रमुख पात्र 'स्वभाव' एवं 'महाभाव' की खोज में है। इसके प्राप्त होते ही मानवीय अहंकार और व्यष्टि चेतना नष्ट हो जाती है और मानव स्वयं को समष्टि चेतना के लिए समर्पित कर देता है। 'स्वभाव' को पहचानना कठिन साधना का विषय है क्योंकि यह व्यक्ति का अन्तर्यामी देवता है।

'महाभाव' व्यक्ति के मन की विशालता एवं शुचिता के अनुरूप ही विशाल और बड़ा होता है। ''यह व्यष्टि मन को समष्टि मन से मिला देने का दर्शन है, सीमित अस्तित्व को असीम सत्ता के साथ एक कर लेने का दर्शन है।''[32] इसकी अभिव्यक्ति करते हुए चन्द्रमौलि कहता है, ''मुझे ऐसा लगता है कि सच्चा सुख अपने आपको दलित द्राक्षा की भांति निचोड़कर उपलब्ध माधुर्य रस को लुटा देने में है। पर 'लुटा' सकना इतना आसान नहीं है।''[33]

न्याय–

'पुनर्नवा' मध्यकालीन न्याय व्यवस्था का विहंगम चित्र प्रस्तुत करता है। न्याय व्यवस्था की दृष्टि में सब समान हैं। चाहे वह शासक हो या सामान्य प्रजा। शासक के द्वारा नियमों को अतिक्रान्त कर लेने पर वह भी दण्ड का भागी होगा। न्याय व्यवस्था सम्राट के एकान्त निर्णय की अपेक्षा नहीं रखता। यदि सम्राट ने प्राड्विवाक (स्थायी धर्माधिकारी), मंत्री, पुरोहित और धर्मशास्त्रियो से परामर्श किये बिना कोई निर्णय किया है तो उसका कोई मूल्य नहीं है, निरर्थक है।''[34]

चन्द्रा व गोपाल आर्यक के सन्दर्भ में यह बात उठती है। ''न्याय प्रमाण को आधार बनाकर चलता है किन्तु प्रमाण मात्र ही पर्याप्त नहीं है। ऐसी स्थिति में न्यायविद् धर्मशास्त्र की शरण में आता है। धर्मशास्त्र जब समस्या का समाधान नहीं

देता तो शासक का निर्णय मान्य है और शासक की अनुपस्थिति मे रानी को यह अधिकार मिलता है।'' राजा का प्रत्येक निर्णय 'बहु जन हिताय, बहु जन सुखाय' होना चाहिए।'' [35]

धर्माधिकारी इन सभी के उपरान्त प्राश्निकों की नियुक्ति करता है। यह प्राश्निक जनप्रतिनिधि होता है। प्राश्निक वादी-प्रतिवादी और साक्षियो से साक्षात्कार कर वास्तविकता ज्ञात करते थे और तत्पश्चात् कार्यवाही होती थी।

निर्णायकों के लिये प्रचलित था कि, ''निर्णायको को पांच दोषो से बचना चाहिये। राग, लोभ, भय, द्वेष और एकान्त में वादियों की बाते सुनना।''[36] 'पुनर्नवा' के अनुसार तत्कालीन न्याय व्यवस्था सुदृढ आधार पर टिकी थी। व्यक्तिगत दखल के आधातो से जर्जर होने वाली नहीं थी। न्याय व्यवस्था के प्रकरण में नवीन परिस्थितियों के अनुसार नवीन धर्म संहिताओ के निर्माण पर जोर दिया गया है। इसमे लोकमानस की सवेदनाओ के साथ-साथ धर्म के तत्त्वों का अनुशीलन भी अनिवार्य है।''[37]

'पुनर्नवा' में व्यवस्थाओं मे समयानुरूप परिवर्तन, परिमार्जन और संस्कार की बात कही गई है, उसमे आमूल-चूल परिवर्तन नहीं चाहा गया है। 'पुनर्नवा' शीर्षक की सार्थकता भी इसी मे निहित है। द्विवेदी जी इस सम्बन्ध मे कहते है, ''..... सत्यान्वेषी दृष्टि है, जो एक ओर यदि सत्य की समग्र मूर्ति को देखने का प्रयास करती है, तो वहीं दूसरी ओर वह सदा अपने को सुधारने एवं शुद्ध करने को प्रस्तुत रहती है; वह सभी प्रकार के दुराग्रह और पूर्वाग्रह से मुक्त रहने की और सब तरह के सही विचारों को ग्रहण करने की दृष्टि है।''[38]

न्याय व्यवस्था भी क्रमबद्धता से चलती है। सर्वप्रथम प्रकरण अमात्य के समक्ष प्रस्तुत होता है। अमात्य स्थायी धर्माधिकारी (प्राड्‌विवाक) से सलाह लेते हैं। प्राड़विवाक खुद पुरोहितों, प्राश्निकों और धर्म शास्त्रियो की सलाह लेते हैं। इसके पश्चात् रानी एवं सबसे आधिकारिक रूप में राजा की राय होती थी। प्राश्निकों की नियुक्ति वर्तमान 'जूरी-प्रथा' का ही रूप है।

शासन को 'बहुजन हिताय' एवं 'बहुजन सुखाय' के रूप में होना चाहिए। राजा को भी सदाचारी एवं आदर्श होना चाहिए। राजा के अत्याचारी एवं उच्छृंखल होने पर प्रजा का विद्रोह न्यायोचित माना गया है। अत्याचार और अन्याय के विरोध में यदि हिसा भी करनी पड़े, तो स्वीकार्य है। गोपाल आर्यक एवं श्यामरूप का व्यक्तित्व इन्हीं तत्त्वो से बना है। देश की अखण्डता और एकता की रक्षार्थ शस्त्र संचालन मे कहीं कोई अनौचित्य नहीं है।

शिक्षा–

'पुनर्नवा' के काल में शिक्षा को महत्त्व प्राप्त था। आचार्य प्रकृति की किसी मनोरम, सुरम्य स्थली को अपने पाठ्य का केन्द्र चुनते थे। श्रुतिधर, वृद्ध ब्राह्मण व रात का परिचय 'पुनर्नवा' में आचार्य के रूप मे मिलता है। पाठशाला का खर्च

शासक देता था अतएव आचार्य को जीवन निर्वाह के लिए भिक्षा वृत्ति नहीं करनी पड़ती थी। आचार्य समाज में सम्माननीय व्यक्ति था और दूर-दूर से अनेक सम्पन्न परिवार के बालक उनसे शिक्षा प्राप्त करने के लिये आते थे। अन्य विषयो के अतिरिक्त व्याकरण व न्याय की शिक्षा भी दी जाती थी। ''जीर्णोत्थान के टूटे हुए सरोवर की दूसरी ओर श्रुतिधर की पाठशाला थी। साधारण जनता में यह 'ओझाउल' (उपाध्याय-कुल) के नाम से प्रसिद्ध था। इसका खर्च स्वयं चण्डसेन चलाते थे। परन्तु वह खर्च नाममात्र का ही था। पाठशाला के आचार्य श्रुतिधर उज्जयिनी में सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे। नगर के अनेक प्रतिष्ठित परिवारों के बालक उनसे शिक्षा प्राप्त करते थे। अपनी वृत्ति के लिये उन्हे किसी के द्वार पर नहीं जाना पड़ता था।''[39]

छात्र वर्णानुसार शिक्षा प्राप्त करते थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य विद्यार्थियो की शिक्षा उन्हें वर्णानुसार ही दी जाती थी। वृद्धगोप अपने पालित ब्राह्मण पुत्र श्यामरूप को ब्राह्मण कर्म में पटु बनाने हेतु व अपने पुत्र गोपाल को क्षत्रिय कर्म में निपुण बनाने हेतु आचार्य देवरात के निकट भेजते हैं। बालक अपनी रुचि के अनुसार कर्म चुनने को स्वतत्र नहीं थे किन्तु इतर वर्ण के कर्म कर प्रसिद्धि पा लेने पर समाज इन्हें सम्मान देता था। शार्विलक इसका उदाहरण है। ब्राह्मण अपने पुत्रों को शास्त्रार्थ कला में निपुण करना चाहते थे और उन पर कड़ा संयम रखते थे। वृद्ध-दम्पति का पुत्र इसी कठोर सयम का शिकार था। चौथी शताब्दी में शिक्षा के लिये आश्रमो व उपाध्याय कुलो की सुदृढ़ व्यवस्था थी। सभी विषयों की शिक्षा उनके विशेषज्ञों द्वारा दी जाती थी। प्रतियोगिताओं और वाद-विवाद के आयोजन द्वारा छात्रो को बुद्धि विकास के समुचित अवसर मिलते थे।

इस काल में शिक्षा कुछ समृद्ध एवं प्रतिष्ठित परिवारो तक सीमित थी। जन साधारण तक उसका पर्याप्त प्रचार नहीं हो पाया था। इस काल में गुरुकुल प्रणाली और राजकीय पाठशालाओं में शिक्षा दी जाती थी।

इन शिक्षण संस्थाओं मे वैदिक कर्मकाण्ड के साथ-साथ मल्लविद्या, सामुद्रिक शास्त्र आदि की शिक्षा वर्ण-व्यवस्था के अनुरूप दी जाती थी। हलद्वीप मे देवरात का आश्रम 'सरस्वती विहार' था, जिसमें काव्य प्रतियोगिताए एवं शास्त्रार्थ होते रहते थे। शास्त्रार्थ में विजयी होना विद्वता की निशानी नहीं माना जाता था। वृद्धा माता इसे कहती हैं, ''जिसे सचमुच शास्त्र ज्ञान हो जाएगा, वह भला हार जीत के लिए क्यों भटकता फिरेगा।''[40]

शिक्षा वर्ण-व्यवस्था के अनुरूप ही दी जाती थी यद्यपि अब उसमे शिथिलता आने लगी थी।

'पुनर्नवा' में नारी पात्र शिक्षित है, किन्तु मृणाल के अतिरिक्त उनकी शिक्षा के विषय में कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता।

देवरात का व्यक्तित्व स्वयं अपने आप में एक संस्था है। वे वैदिक कर्मकाण्ड के

अतिरिक्त ललित विद्याओ, मल्ल विद्या सहित हर विद्या में पारंगत है।

वैदिक कर्मकाण्ड की शिक्षा क्षितेश्वर महादेव की पाठशाला 'लहुरी काशी' मे दी जाती थी इसके संचालन मे शासन का सहयोग प्राप्त होता था।

राष्ट्रीय चेतना–

'पुनर्नवा' में राष्ट्रीय चेतना की तप्त फुहारें हिम से जड़ श्रान्त मानस को गहरी आश्वस्ति प्रदान करती है। चन्द्रमौलि और माढव्य के वार्तालाप द्वारा यह चेतना उभर कर आती है। वे भाणभद्र के राजदरबार के उल्लेख से विदिशा की अदम्य शक्ति के प्रति अनुराग व्यक्त करते हैं। चन्द्रमौलि हूणों व यवनों के उद्धत पौरुष दर्प से चिन्तित है जिससे जनता में आतंक फैला हुआ है। ''उद्धत सैन्य शक्ति के पदचाप से शेषनाग का फणमण्डल व्याकुल हो उठा है। सर्वत्र केवल मारकाट, लूटपाट, नोच खसोट का बवण्डर आसमान को रजोलिप्त बना रहा है। प्रकाश की कहीं क्षीण रेखा भी नहीं दिखाई दे रही है।''[41]

समुद्रगुप्त के सम्राट रूप का उल्लेख करते हुए भी पुनर्नवाकार उसके 'भारत को सांस्कृतिक एकता' में बांधने के संकल्प को दोहराता है। समुद्रगुप्त एक आदर्श शासक के रूप में है, जिसे अपने राष्ट्र व राष्ट्र की प्रजा से लगाव है। वह वेश बदलकर प्रजा के सुख-दु:खो की जानकारी रखता है, इतना ही नहीं वह भौतिक मूल्यों का पक्षधर और न्याय व्यवस्था का संरक्षक है।

गोपाल आर्यक और शार्विलक भी अपने प्रयासो से आततायी शासक से प्रजा को मुक्त कराते हैं। अपने सम्पूर्ण शारीरिक बल को वे राष्ट्र के निमित्त समर्पित कर देते हैं। कहना न होगा कि 'पुनर्नवा' में राष्ट्रीय चेतना तत्कालीन समाज में प्रच्छन्न किन्तु अविभाज्य अग रूप में जुडी हुई है। लहुरा वीर भी जागृत देवता हैं। राष्ट्र के लिये समर्पित शौर्यता की अर्चना का प्रत्यय उनके माध्यम से स्पष्ट होता है। वीर पूजा राष्ट्रीयता के अन्तर्गत ही परिगणित होती थी। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की महामाया आर्यावर्त के नवयुवकों को दस्युओं के आक्रमण के प्रति सचेत करती हुई उनमें नवीन उत्साह का सचार करती है। 'चारु-चन्द्रेलख' के विद्याधर, चन्द्रलेखा, कविजल्हन स्वतंत्रता की भावना से आपूरित है। वे राष्ट्रीयता के आवेग से सुप्त जनमानस में नव जागृति की फुहारे छोडते हैं, आंधी की तरह बढकर, बिजली की तरह कड़क कर तथा मेघो की तरह बरसकर, अंधकार के युग मे भटकती निर्वीय मानवता की रक्षा की प्रेरणा देते हैं। 'अनामदास का पोथा' मे रैक्व सामान्य जनों के दु:ख कष्टो का निवारण कर राष्ट्रीय चेतना का निर्वहन करते हैं।

लोकजीवन–

'पुनर्नवा' में लोकजीवन का विशद् वर्णन तो प्राप्त नहीं होता किन्तु पर्व-उत्सवों के वर्णन, खान-पान एव शिष्टाचार सम्बोधन में उसे देखा जा सकता है। श्रावस्ती की नट मण्डली छबीला पंडित की विजय के उपलक्ष्य में अपने उल्लास की

अभिव्यक्ति मद्यपान कर हुल्लड़ करने में करती है। मद्यपान हेतु पानशालाओ का उल्लेख है। चन्द्रा बनिया की दुकान से दाल, चावल लाकर खाना बनाती है और आर्यक को खिलाती है। धूता का आर्यक को भोजन करवाने एवं आतिथ्य सत्कार का प्रसंग, मथुरा के वृद्ध ब्राह्मण-श्यामरूप प्रकरण में भी आतिथ्य सत्कार की भावना निहित है। तपस्विनी वृद्धा भी श्यामरूप के जलपान हेतु फल-फूल प्रस्तुत करती हैं।

वेशभूषा, रहन-सहन और आभूषण का वर्णन करते हुए पुनर्नवाकार ने गृहस्थ नारी, संन्यासिनी, गणिका, ब्राह्मण और क्षत्रिय पुरुषों का वर्णन किया है। 'पुनर्नवा' में ग्रामीण रहन-सहन का चित्रण प्राप्त नहीं होता संभवत ऐतिहासिकता के निर्वहन मे ग्रामीण जीवन सम्बन्धी तथ्यों के सहज सुलभ न होने के कारण ऐसा रहा हो।

उपन्यास में नगरीय जीवन को प्रस्तुत करते हुए नगर में प्रचलित शिष्टाचार एवं सम्बोधन पर विशेष ध्यान दिया है। सामाजिक प्रतिष्ठा, कुल, आयु एवं व्यक्तिगत सम्बन्धों के आधार पर देवरात, श्रुतिधर, मथुरा के वृद्ध ब्राह्मण, चण्डसेन और चारुदत्त को 'आर्य' सम्बोधन प्राप्त होता है। धर्मशास्त्र के विशेषज्ञ पुरगोभिल 'आचार्य' सम्बोधन से सम्मानित हैं। अनुभवी, ज्ञानी एवं व्यावहारिक बुजुर्ग सुमेर सब लोगों द्वारा 'काका' का सम्बोधन पाते हैं। यहां तक की धर्मशास्त्रज्ञ पुरगोभिल भी उन्हें 'तात' के रूप में सम्बोधित करते है।''[42] माढव्य शर्मा को 'दादा' सम्बोधन प्राप्त है। वृद्धगोप देवरात को श्रद्धावश 'प्रभो' अथवा 'आर्य' कहते हैं और देवरात उन्हे 'भद्र' कहकर सम्बोधित करते है।''[43] श्यामरूप को आर्यक द्वारा 'भैया' एवं झुम्मन दुसाध के लड़के द्वारा 'संवरू भैया' का सम्बोधन प्राप्त होता है पर उज्जयिनी के निवासी उन्हें 'आर्य शार्विलक' कह समादृत करते हैं।

सम्बोधनों में आधुनिकता की प्रवृत्ति भी है, जिसमें राज कर्मचारी और जन सामान्य के सम्बन्धों की अभिव्यक्ति है। राजदण्डधारी, वीरक को मन में जुआरी कहता है किन्तु प्रत्यक्षत: उसे 'बाबूजी' अथवा 'मालिक' कहकर बुलाता है। वीरक भी उसे 'अरे', 'पाषंड' आदि कहकर बुलाता है।

उस काल के शिष्टाचार के रूप में सम्बोधन के साथ-साथ अभिवादन भी प्रचलित था। ये अभिवादन व्यक्तिगत सम्बन्धो, कुल, पद, आयु एवं प्रतिष्ठा के अनुरूप दिये जाते थे। इस हेतु हाथ जोडकर प्रणाम किया जाता था अथवा दण्डवत् प्रणाम कर एवं 'जयकार' के साथ पुरुप अभिवादन करते थे।

'पुनर्नवा' में नारियों के लिए भी निश्चित सम्बोधन है। मंजुला, वसन्तसेना, धूता आदि को देवि, देवी, आर्ये, आर्या एवं आयुष्मती का सम्बोधन प्राप्त होता है। वृद्धा महिलाएं 'माता' नाम से सम्बोधित की जाती थीं स्त्रियां अपनी अवस्था के अनुसार परस्पर 'सखी', 'बहिन', 'दीदी' और 'प्यारी' सम्बोधन का प्रयोग करती थीं। गृहस्थ नारी को पर्याप्त आदर दिया जाता था। वे अपने से छोटी आयु के पुरुषो द्वारा 'भाभी' के रूप में समादृत होती थीं।

'पुनर्नवा' में पर्व-त्यौहारों की उमंग का भी वर्णन है। 'बसन्तोत्सव' उस काल का प्रमुख उत्सव है। इस समय विविध कला एवं साहित्यिक प्रतियोगिताओ के साथ-साथ पशु-पक्षियों की लड़ाई, मल्लविद्या आदि का आयोजन होता था। 'राज्याभिषेक' के अवसर पर भी अनेक समारोह आयोजित किये जाते थे। ग्रामीण उत्सवों के रूप में गोपाटक ग्राम की 'गोवर्धन धारण' की लीला का उल्लेख है। रनिवास की राज-युवतियो के मनोरंजन के लिए आभीर-महिलाओं की मण्डली द्वारा भी नृत्य प्रस्तुत किए जाते थे।''[44]

समाज में विवाहोत्सव का भी पर्याप्त महत्त्व था। 'पुनर्नवा' में मृणाल-आर्यक का विवाह गन्धर्व रीति से होता है। चारुदत्त-बसन्तसेना और शार्विलक-मांदी के विवाह का भी उल्लेख प्राप्त होता है। बसन्तसेना चारुदत्त को शार्विलक-मांदी के विवाह पर 'सुन्दर संवारे हुए भोजपत्र पर कुसुम राग से लिखा हुआ निमंत्रण पत्र' भेजती है।

लोक जीवन के लोक विश्वासों की अभिव्यक्ति को किवदंतियों एवं जनश्रुतियो के माध्यम से भी अभिव्यक्त किया गया है। देवरात-मंजुला, आर्यक-चन्द्रा, समुद्रगुप्त एवं मैना-मांजरदेई को लेकर मथुरा में अनेक जनश्रुतियाँ प्रसिद्ध है। आर्यक को 'महावराह' एवं 'लहुरा वीर' की उपाधि भी इन लोक-कथाओ से मिली है।

सिद्धिदाता महादेव एवं कालिका के दर्शन मनोकामनाओ को पूर्ण करते हैं। सिद्ध बाबा के चमत्कार, माढव्य द्वारा घर के निकट चुड़ैल देख-लेने की बात, चन्द्रमौलि का पागलपन एवं उसका उपचार, तीसरे प्रहर टीले पर गाय के थन से दूध बहना आदि धार्मिक लोक विश्वास ग्रामीण जनता मे व्याप्त है। 'पुनर्नवा' की सांस्कृतिक चेतना की पुष्टि इनके द्वारा होती है। इसके माध्यम से द्विवेदी जी ने भारतीय सास्कृतिक जीवन का जीवन्त चित्र प्रस्तुत किया है एवं ऐतिहासिक उपन्यास की अपेक्षानुसार ही लोकजीवन के सामाजिक और सास्कृतिक स्थिति के चित्र को प्रस्तुत किया है।

'पुनर्नवा' में चौथी शताब्दी के सांस्कृतिक जीवन के विविध पक्ष साकार हो उठे है। तत्कालीन समाज की सांस्कृतिक घटनाओं को बीन बीन कर द्विवेदी जी ने 'पुनर्नवा' को चौथी शताब्दी का प्रामाणिक दस्तावेज बना दिया है। ***

संदर्भ :

1. पुनर्नवा, पृष्ठ-9
2 पुनर्नवा, पृष्ठ-130
3 पुनर्नवा, पृष्ठ-12
4, पुनर्नवा, पृष्ठ-13
5 पुनर्नवा, पृष्ठ-202-203
6 पुनर्नवा, पृष्ठ-131
7 पुनर्नवा, पृष्ठ-17

8 पुनर्नवा, पृष्ठ–143
9. पुनर्नवा, पृष्ठ–53-54
10 पुनर्नवा, पृष्ठ–118-119
11 पुनर्नवा, पृष्ठ–11
12. पुनर्नवा, पृष्ठ–89-90
13 पुनर्नवा, पृष्ठ–90
14. पुनर्नवा, पृष्ठ–92
15. पुनर्नवा, पृष्ठ–70
16 पुनर्नवा, पृष्ठ–86
17. पुनर्नवा, पृष्ठ–51
18 पुनर्नवा, पृष्ठ–50
19. पुनर्नवा, पृष्ठ–70
20 पुनर्नवा, पृष्ठ–70
21. पुनर्नवा, पृष्ठ–85
22 पुनर्नवा, पृष्ठ–86
23 पुनर्नवा, पृष्ठ–117-118
24. पुनर्नवा, पृष्ठ–60
25 पुनर्नवा, पृष्ठ–39
26. पुनर्नवा, पृष्ठ–122-123
27. पुनर्नवा, पृष्ठ–104
28 पुनर्नवा, पृष्ठ–59
29. पुनर्नवा, पृष्ठ–60
30 भारत की संस्कृति और कला, राधाकमल मुखर्जी, पृष्ठ–145-147
31. पुनर्नवा, पृष्ठ–264
32. पुनर्नवा, पृष्ठ–312
33 पुनर्नवा, पृष्ठ–130
34 पुनर्नवा, पृष्ठ–155
35. पुनर्नवा, पृष्ठ–169
36 पुनर्नवा, पृष्ठ–137
37. पुनर्नवा, पृष्ठ–170, 173, 175
38 आचार्य द्विवेदी की आलोचना पद्धति और उपलब्धि, डॉ शंभूनाथ सिंह, पृष्ठ–169
39. पुनर्नवा, पृष्ठ–137
40 पुनर्नवा, पृष्ठ–161
41. पुनर्नवा, पृष्ठ–95-96
42. पुनर्नवा, पृष्ठ–168
43. पुनर्नवा, पृष्ठ–10-11-18
44. पुनर्नवा, पृष्ठ–171

द्विवेदी जी का जीवन दर्शन

मानव अपने संस्कारों व अनुभवों के माध्यम से जीवन और जगत् के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण अपना लेता है, इसी के द्वारा वह वस्तुओं को समझने की चेष्टा करता है। कहना न होगा कि यही उसका जीवन दर्शन कहलाता है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी मानवीय सम्बन्धों के व्याख्याकार है। उन्होने भारतीय धर्म, संस्कृति व परम्पराओ का गहन अध्ययन कर जीवन के प्रति विशेष दृष्टिकोण का निर्माण किया है। ''आचार्य द्विवेदी का समूचा दर्शन, समूची सर्जनशीलता और रचनात्मक भावोल्लास, समाज सापेक्ष लोक संस्कृति के नैरन्तर्य मे विद्यमान है इसलिए उनकी कारयित्री प्रतिभा भावमयी पर्वतीय शृंखलाओं के मध्य से प्रवहमान मन्दाकिनी धारा के समान इतिहास और परम्पराओं से रस ग्रहण करती हुई, मानव जीवन के समस्त मूल्यो की तेज धार से गुजरती हुई आधुनिक शाश्वत सौन्दर्य की प्रतिष्ठा में संलग्न है।''[1] आचार्य द्विवेदी जी ने मानवतावादी चिन्तन, अतीत के आलोक व संस्कृति के तत्त्व निरूपण के समन्वय से अपना जीवन दर्शन निर्मित किया है।

मानवतावादी दृष्टि :

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का जीवन दर्शन मूलतः मानवतावादी दृष्टि से निर्मित हुआ है। इस हेतु उन्होंने अपने चारों उपन्यासो में कुछ ऐसे चरित्रों की सृष्टि की है जिसमे उन्होंने मानवतावाद का भरपूर निर्वहन किया है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' का बाणभट्ट भट्टिनी का उद्धार करता है। 'चारु चन्द्रलेख' का सातवाहन समाज और राष्ट्र के कल्याणार्थ प्रेरित करता है। 'पुनर्नवा' के गोपाल आर्यक, शार्विलक, देवरात मानवीयता के गुणो से भरपूर है और अत्याचारी शासक के अत्याचार से प्रजा को मुक्त कराते हैं। 'अनामदास का पोथा' का रैक्व मानवीयता के रस से सराबोर होकर आत्मज्ञान को हेय समझने लगता है। द्विवेदी जी मानव पर गहन आस्था रखते है और मानते हैं कि मानव जीवन की सार्थकता सामाजिक मगल में ही निहित है। इस हेतु वे सेवा, दया, करुणा, वात्सल्य, सहानुभूति, परदुःख-कातरता जैसे गुणों के प्रस्फुटन को आवश्यक मानते है। दलितद्राक्षा की तरह अपने आप को निचोड़ कर महाभाव को समर्पित कर देना ही मानवीयता की अस्मिता है। 'अनामदास का पोथा' में शरीर, मन, प्राण सभी विनश्वर साधनो की सार्थकता तब मानी है, जब हम दीन-दुखियो की सेवा में लीन होंगे। व्यक्तिगत स्वार्थों की परिधि से ऊपर उठना और अपने आप को समष्टि हित के लिए निरत कर देना ही सच्ची मानवीयता है।

व्यक्ति स्वातंत्र्य की चेतना :

द्विवेदी जी व्यष्टि को समष्टि से पृथक् नहीं देखते अपितु समष्टि हित में ही मानव मात्र की सार्थकता को स्वीकार करते हैं, ''मनुष्य जितना ही अधिक मनुष्य होता है, उतना ही अधिक वह दूसरो के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर सकता

है और उसको अन्तिम तर्कसंगत परिणाम तक ले जाया जाये, तो कह सकते है कि एकत्व की अनुभूति ही मनुष्य की चरम मनुष्यता है।''[2] इतना ही नहीं इसकी पूर्ति हेतु उसे दलित द्राक्षा की तरह अपने आपको निचोड़ देने के लिये भी प्रस्तुत होना चाहिए। अकेले में प्राणाराम होना भी एक प्रकार का स्वार्थ ही है।

मनुष्य अगर सम्पूर्ण सात्त्विक वृत्तियों से युक्त न भी हो, तो उसे इस बात के लिये हीन भावना से ग्रस्त नहीं होना चाहिये। 'पुनर्नवा' मे देवरात मंजुला को इसी प्रकार का प्रबोधन देते हुए कहते हैं, ''यहां शुद्ध सुवर्ण कहीं नहीं है। सब जगह सुवर्ण और खाद मिला हुआ है। किसने यह आभूषण पहन रखा है ? उसी को खोजो। पाप और पुण्य जब उसी को समर्पित हो जाते हैं, तो समान रूप से धन्य हो जाते है।''[3]

व्यवस्थाओं का पुनर्वीक्षण :

द्विवेदी जी शाश्वत मानव मूल्यों को मानते हुए भी उन सामाजिक व्यवस्थाओं के प्रति तीखा आक्रोश व्यक्त करते हैं, जिससे मानव समाज कुण्ठित होता है। वे इन सभी सामाजिक व्यवस्थाओं के पुनर्वीक्षण व परिवर्तन की सलाह देते हैं। ये सामाजिक व्यवस्थायें प्रणय व विवाह के सन्दर्भ में उठायी गयी है। वे अन्तर्जातीय विवाह के समर्थन के लिए विविध तर्कों को अपनाते हैं। न्यायज्ञाता पुरगोभिल द्वारा उन्होंने लोकमानस का विश्लेषण कर कहा है, ''इसी तरह जिसे आज अधर्म समझा जा रहा है, वह किसी दिन लोकमानस की कल्पना से उठकर व्यवहार की दुनिया में आ जायेगा, अगर व्यवस्थाओं का संस्कार और परिमार्जन नहीं होता रहेगा तो एक दिन व्यवस्थायें तो टूटेगी ही, अपने साथ धर्म को भी तोड़ देगी।''[4]

चन्द्रमौलि सामाजिक व्यवस्थाओं के इस रूप को नकारता है, जिससे व्यक्ति के जीवन का उन्मुक्त जीवन प्रवाह अवरूद्ध होकर, उसे कुंठित और सर्वभावेन हीन बनाने को तत्पर हो। गोपाल आर्यक, देवरात, चन्द्रमौलि सभी इस व्यवस्था से आहत हैं। इसी बात को वह कहता भी है, ''मुझे ऐसा लगता है मेरे मित्र गोपाल की व्यथा मनुष्य की बनाई सामाजिक व्यवस्था की देन है। इस व्यवस्था की आलोचना करने और बदलने का अधिकार मनुष्य को मिलना चाहिए। विधाता ने उन्हें महत्त्वपूर्ण कार्य करने को इस धरित्री पर भेजा है, परन्तु मनुष्य की बनाई सामाजिक व्यवस्था ने विधि व्यवस्था में हस्तक्षेप किया है। क्षमा करें आर्य, आप जो अपने को भटका हुआ अनुभव कर रहे हैं, वह किसी न किसी रूप में विधि व्यवस्था का ही हस्तक्षेप होना चाहिए।''[5]

सामाजिक व्यवस्थाओं के पुनर्वीक्षण को उन्होंने मूलतः व्यक्ति-स्वातंत्र्य की चेतना के संदर्भ में उठाया है। व्यक्ति-स्वातत्र्य के अभाव में यह सम्बन्ध लोकापवाद का कारण बनता है। आर्यक सामाजिकों के भय से स्वयं को इधर-उधर छिपाने की चेष्टा करता है और चन्द्रा को लांछित जीवन बिताना पडता है। सम्राट उन्हें व्यक्ति-स्वातंत्र्य नहीं देता और इसलिए समाज उनके कृत्यो का अनुमोदन नहीं करता किन्तु ये पात्र सघर्षरत रहकर जीवन के सग्राम को जीतते हैं। चन्द्रा अपने प्रखर रूप, व

और सेवा से सभी लाछनो को धो देती है। वहीं आर्यक अनुभव करता है, "आज तक मैंने अपने आपको सारी दुनिया से छिपाया है, तुमसे भी छिपाया है। अब मुझे सहज गुरुमंत्र मिल गया है–अपने आपको छिपाते फिरना सारे अनर्थों की जड़ है। अब मै अपने आपको छिपाऊगा नहीं। विधाता ने मुझे जो बनाया है, वह हूँ। इसमें छिपाना क्या है।"[6]

पुनर्नवाकार वैयक्तिक और सामाजिक सम्बन्धो का रूप निर्धारण करते हुए लोकापवाद को प्रश्रय नहीं देते। व्यक्ति का अन्तस ही 'स्वभाव' और 'महाभाव' का आधार है अतएव उसे सामाजिको की अपेक्षा अपने अन्तःकरण का आधार ग्रहण करना चाहिए। देवरात, मजुला, सिद्धबावा, धूता, चन्द्रमौलि और चन्द्रा इसी बात को प्रमाणित करते है।

'व्यक्ति को स्वैराचार से बचाने की दृष्टि से नि.शेष भाग के समर्पण और लोक सेवा के आचरण को मान्यता दी है। अहंकार से विमुक्त दलितद्राक्षा की तरह स्वयं को निचोडकर लुटा देने वाला व्यक्ति स्वभाव से परिचित होता हुआ, महाभाव तक की यात्रा लोकसेवा के माध्यम से पूरी कर लेता है। व्यष्टि से समष्टि चेतना में विलीन हो जाने की बात करता हुआ उपन्यासकार व्यष्टि से समष्टि भाव को उच्च मानता है।"[7] उनके चारों उपन्यास उनके इन्हीं विचारों का उद्घोष करते हैं। प्रेम जैसे व्यक्तिगत सम्बन्ध को भी वे सामाजिक स्तर पर देखते है।

सम्राट धर्म का संरक्षक होता है। उसे प्रजा की व्यक्तिगत बातो से ऊपर उठकर अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों का नियामक होना चाहिए। "क्या अच्छा है–राजा का प्रजा के व्यक्तिगत जीवन में हस्तक्षेप या प्रजा की राजा के व्यक्तिगत जीवन के प्रति सतर्क दृष्टि ?"[8] स्पष्टत द्विवेदी जी इन दोनों को ही अच्छा नहीं समझते। हजारीप्रसाद जी ने व्यक्ति सत्ता को व्यवस्था के दानवी तंत्र के विरोध में खडा किया है। व्यक्ति स्वातंत्र्य के मूल्यों के पक्षधर के रूप में उनमें मानवतावादी चिन्तन को नया आयाम प्राप्त होता है, 'पुनर्नवा' तथा 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में इस पक्ष को खुलकर व्यक्त किया गया है।"[9]

ऐन्द्रिय संवेदना के प्रति रूझान :

मानव संवेदनाओ का पुंज है। मानवीय संवेदनायें उसे क्षुधित, तृषित व ऐन्द्रिय बोध के प्रति उकसाती है। परम्परा से हम अपने ऐन्द्रिय बोधो को संयमित रखने की सीख पाते आये है। द्विवेदी जी ने मानवीय कुण्ठा के उत्पादक इस तथ्य को स्वीकार किया है और उन्मुक्त रूप से इसका प्रतिपादन किया है, "इस मृण्मय जगत में ही चिन्मय तत्त्व का अधिष्ठान है। चिन्मय की तलाश मे उन्होंने मृण्मय की उपेक्षा नहीं की है . । उन्होने भास्वर रग-वर्णो की इस वसुन्धरा को, इसकी शाब्दिक ध्वनिमयता को, रस और गध की पहचान को, समस्त इन्द्रियलब्ध परिणति को, अपनी सर्जना का केन्द्र बनाया है।"[10]

देवरात, चन्द्रमौलि चिन्मय के मोह मे फसकर ऐन्द्रिय सुखोपभोग नहीं कर पाते और आजीवन कुण्ठित होते रहते है। चारुदत्त व आर्यक इन ऐन्द्रिय संवेदनो का परस कर अकुण्ठित जीवन दिताते हैं। आर्यक के विषय में उन्होने लिखा है, '' मैने आंचल से हवा की, प्यार से अचवाया तो थोड़ा मान भंग हुआ। रात भर शरीर दवाती रही, अपना आधा आंचल विछा दिया था। मजे में उस पर सो गये। बड़ा अभिमान मन मे पाले थे, पर सेवा का सुख भोगने में भी सजग थे। फिर तो दयानिधान कई दिनों तक बीमार की सेवा मन लगाकर करते रहे और बीमार ने जो भी मांगा देते रहे। कुछ भी नहीं उठा रखा। जो कुछ भी तेरे लिए छिपाकर रखा था, उसे भी उलीच कर दे दिया-अवढरदानी बनकर।''[11]

भारतीय संस्कृति का आख्यान :

''भारतीय वाङ्मय की समृद्ध परम्परा तीन धाराओं में होकर प्रवहमान है। धर्म और दर्शन के दो कुलों में वहने वाली पहली धारा है। दूसरी धारा भाषा और साहित्य के कुलों में वंधी है और तीसरी धारा इतिहास और विज्ञान के कुलों में वहती है। इन तीन धाराओं मे भारतीय वाङ्मय की विशाल ज्ञानराशि समेटी जा सकती है। इस त्रिवेणी का संगम किसी एक साहित्यकार में असंभव नहीं तो दुर्लभ अवश्य है। पण्डित हजारी प्रसाद द्विवेदी के व्यक्तित्त्व में हम इन तीनों धाराओ का संगम पाते हैं।''[12] द्विवेदी जी ने इन तीनों धाराओं को आत्मसात कर लिया है और उनके मंथन द्वारा उत्पन्न नवनीत से साहित्य सृष्टि की है अतएव उसमें कोमलता और मृसणता की सृष्टि हुई है। कारयित्री व भावयित्री दोनों प्रकार की प्रतिभाओं का उनमें सन्निवेश हो गया है। भारतीय संस्कृति की संवेदनशीलता और भावमयता को उन्होने अपने पात्रो में उकेरा है। ये पात्र ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे भारतीय संस्कृति के भव्य चित्र हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं।

डा. नामवरसिह उनके कृतित्व की मूल संवेदना इस प्रकार स्पष्ट करते हैं, ''उनके परम्परा-द्रोह में एक उदासी का भाव है, पीड़ा उनकी आधुनिकता है, जो सर्जनात्मक होती है और सर्जनात्मक होने के कारण आज भी हमारे लिये मूल्यवान हैं, क्योंकि उसमें आज भी संभावनाएं है। परम्परा के प्रति यह द्वन्द्वात्मकता की वह जमीन है, जिस पर द्विवेदी जी के पांव मजबूती से टिके हुए हे। उनकी आस्था का आधार यही है''[13]

क्रान्तिधर्मिता :

द्विवेदी जी परम्परावादी अवश्य है किन्तु रूढिवादिता उन्हे सह्य नहीं। उनके विचारों में क्रान्तिधर्मिता है। सामाजिक व्यवस्थाओं के सदर्भ में भी उनकी क्रान्तिधर्मिता दिखाई देती है, ''सामाजिक व्यवस्थायें ऐसी बाह्यरेखा नहीं है जो मिट ही नहीं सकती। ऊपर-ऊपर से लगता है कि समाज पुराने कायदे कानून के अनुसार ही चल रहा है, परन्तु यदि निरन्तर शास्त्र सम्मत व्यवस्थाओं का परीक्षण न किया

जाये, तो एक दिन ऐसा आ सकता है कि सारा समाज गतिहीन होकर अपनी बनायी व्यवस्थाओ की बेड़ी में आप ही कसा जायेगा।''[14]

उन्होंने अपने विचारों और कल्पनाओ में आदर्श समाज की स्थापना का स्वप्न देखा था। उनका विश्वास था कि ''विचारो और कल्पना की दुनिया में जो बात आज मान्य होती है, उसे व्यवहार की दुनिया में स्थान पाने में देर लगती है, पर वह पाती अवश्य है।''[15]

विचारों या व्यवस्थाओं में क्रान्तिधर्मिता सम्मत निर्णय आवेश या आवेग में न लिए जाकर अपनी सम्पूर्ण चिन्तनशक्ति को प्रयुक्त कर लिए जाने चाहिये ताकि वह मील के पत्थर की तरह मानवीय सस्कृति के विकास यात्रा के काम आ सके।

दार्शनिक अवधारणायें :

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी यद्यपि परम्परावादी लेखक हैं किन्तु आधुनिकता का दम भरने वाले लेखको की तरह पाश्चात्य विचारधाराओं का अधानुकरण उन्होने नहीं किया है। उनका कालचिंतन, दार्शनिक अनुचितन, भारतीयता का ही उद्घोष करता है, ''महाकाल केवल गतिमात्र है, निरन्तर धावमान गति, एक क्षण के लिये भी न रूकने वाले प्रचण्ड वेग। उसके एक-एक पदसचार से, महाशून्य प्रकम्पित हो रहा है और उस प्रचण्ड गति से समुपस्थित, सृष्टि मृत्युधारा में स्नान कर नित्य नवीन जीवन की ओर अग्रसर हो रही है। जो पुराना है, जीर्ण है, सड़ा गला है, वह ध्वस्त होता जा रहा है। नवीन के निर्माण में प्रत्येक पग पर मृत्यु का ताण्डव दिखाई दे रहा है।''[16] इससे प्रेरणा मिलती है कि मृत्यु में से भी नवीन जीवन विकसित हो रहा है अतएव मृत्यु से भयभीत नहीं होना चाहिये।

द्विवेदी जी की मानव सृष्टि विधाता की सृष्टि से किसी तरह भी कमतर नहीं है। विधाता की सृष्टि में निर्माण होता है, विध्वंस होता है और पुन: सृजन होता है किन्तु मानव अपनी कल्पना व चिंतन से भावों को चिरस्थाई बना देता है ''अपौरुषेयत्व अधिक से अधिक एक उत्तम कल्पना है। मनुष्य उससे सीमा के भीतर असीम का इंगित पाता है।''[17]

द्विवेदी जी का कविरूप चन्द्रमौलि का आश्रय लेकर मुखर हो उठा है। चन्द्रमौलि प्रकृति में अपने विचार सम्प्रेपित होते देखता है और सुनता है। सम्पूर्ण प्रकृति के मनोरम रूप सौन्दर्य में वेदना की सृष्टि होती रहती है। चन्द्रमौलि द्वारा प्रकृति के प्रति उद्धत काव्य द्विवेदी जी के छायावादी प्रभाव को प्रकट करती है। अज्ञात के प्रति उत्कट जिज्ञासा छायावाद की ही उल्लेखनीय विशेषता है।

देवरात लेखक के चिन्तन का प्रतीक है। लेखक के विचारो का प्रतिनिधित्व करता है। देवरात नारी को अर्चना की वस्तु मानते है और उसे पुरुष की प्रेरणा शक्ति मानते है, ''नारी भगवती महामाया की प्रेरणा शक्ति है, पुरुष उनकी प्रेरणा को वहन करने वाली शक्ति है। उसे सिहवाहिनी की उपासिका बनना है, महिषमर्दिनी की

उपासना केवल कविता में फबती है। कविता महामाया की इच्छा शक्ति का विलास है अर्थभार हीन सत्वार्थमात्र।''[18] उनका यह मानना कि नारी का रौद्र रूप केवल सैद्धान्तिक है, व्यवहार में यह संभव नहीं है। कविता के विषय में उनके विचार है ''कविता भगवती महामाया की इच्छा शक्ति का व्यवहार है। व्यवहार जगत उनकी क्रिया शक्ति का विलास है। इच्छा शक्ति कल्पनालोक का निर्माण कर सकती है, क्रिय शक्ति केवल सृष्ट पदार्थों तक सीमित है। मुझे ऐसा लगता है कि उत्पन्न कवि चाहे तो कविता के कल्प लोक में फूल सी सुकुमार बालिका से व्रज-कठोर महिष का निर्दलन करवा सकता है, पर व्यवहार जगत मे यह संभव नहीं दिखता।''[19] द्विवेदी जी पौरुष दर्प को व्याख्यायित करते हुए कहते हैं—मेरा हृदय इसलिए व्याकुल है कि मै एकांगी पौरुष दर्प को परास्त करने का उपाय उसी प्रकार के एकांगी पौरुष दर्प को नहीं मान पाता। शोभा और शालीनता का जो आदर करते हैं और उसकी रक्षा करने में जो असमर्थ है, वे कापुरुष हैं, मैं आदर का भाव भी, चाहता हूं और रक्षा करने की सामर्थ्य भी।''[20]

नारी आन्दोलन के प्रति दृष्टिकोण :

'पुनर्नवा' में नारी के उच्च महिमामय रूप को चित्रित किया है। चन्द्रमौलि के माध्यम से पुनर्नवाकार ने वर्तमान हिसा, मारकाट, लूट-खसोट के पीछे नारी के इसी रूप की उपेक्षा को माना है। नारी श्री, सौन्दर्य व गुणों का आगार है। नारी के इस रूप की अवमानना करने वाले असुर और नारी का सम्मान करके भी उसकी रक्षा में असमर्थ लोगो को कापुरुष कहा है।

इस पुरुष प्रधान समाज में नारी की स्थिति सुदृढ हो सकती है। 'पुनर्नवा' मे इसका किंचित आभास मिलता है किन्तु प्रश्न उठता है कि नारी स्वातत्र्य का झडा उठाकर कहीं द्विवेदी जी नारी को मोहक कारा मे तो नहीं बांध रहे ? क्या नारी की समस्या प्रेम और विवाह तक ही सीमित है ? अन्य क्षेत्रों में उसका पदार्पण क्यों नहीं दिखाया गया है ? नारी उत्थान के लिए चिन्तारत लोगों की सहानुभूति और शौर्य स्त्री-पुरुष के दैहिक सम्बन्धों तक ही सीमित है।

मंजुला, मृणाल मंजरी व चन्द्रा में नारी के स्वातत्र्य की चेतना है किन्तु प्रेम समस्या तक ही वह सीमित है, अत एकांगी है। ''नाटकीय रूप से सौतिया डाह से सर्वथा विमुक्त दो स्त्रियों के धैर्य और त्याग को धर्म के द्वारा नीचे दबाकर नारी मुक्ति या नारी उद्धार का कौनसा पवित्र कार्य पूरा हुआ है। क्या इस प्रकार के सम्बन्धों को इतना अधिक प्रश्रय देकर प्रशंसित, विश्लेषित करने के पीछे अप्रत्यक्षत. पुरुष वर्ग के द्वारा नारी के शोषण की नई भूमिकाये तो तैयार नहीं हो रहीं ?''[21]

दाम्पत्येतर सम्बन्धो की वकालत करते हुए पुनर्नवाकार चन्द्रा को विवाह के सूत्र में ही क्यों बाधता है ? उनके सम्बन्धों को सहज मैत्री का रूप भी दे सकता था। चन्द्रा के प्रसंग को उदात्त स्तर तक लाते-लाते पुनर्नवाकार उसे सकीर्ण धरातल पर ले आता है। चन्द्रा के पति का नपुंसकत्व बताते हुए भी आर्यक से उसके सम्बन्धो को

लेकर उसे सामाजिक प्रतारणाओं का कारण वनाया गया है जबकि आर्यक के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण रखते हुए उसे 'सता' (सती का पुरुषवाचक) वता उसके चरित्र की सच्चरित्रता और पवित्रता पर अतिशय जोर दिया है।

चन्द्रा के प्रखर व्यक्तित्व का उल्लेख करते हुए भी अन्तत: उसे पुरुष के प्रति नि शेप भाव से समर्पित वता नारी के शक्तिमय क्रियाशील व्यक्तित्व को दवा दिया है। 'पुनर्नवा' मे चित्रित नारी जीवन को पूर्ण इसलिए नहीं कहा जा सकता है कि नैतिक, दैहिक या भावनात्मक संघर्ष नारी जीवन के विविध सघर्षो का एक अंग तो हो सकता है मगर सम्पूर्ण या एकमात्र रूप उसे नहीं कहा जा सकता। शरीर और मन की भूख के साथ-साथ नारी को भी पेट की भूख और परिवार के दायित्वों के वोझ को भी सहना पड़ता है।''

संभवत नारी जीवन के श्रेष्ठतम पक्षों का उद्घाटन करते समय द्विवेदी जी पुरुष प्रधान समाज की प्रचलित धारणाओ से वच नहीं पाये है किन्तु कहना न होगा कि द्विवेदी जी का नारी विपयक दृष्टिकोण आदर्श की भित्ति पर आधारित है।

सौन्दर्य दर्शन :

द्विवेदी जी पवित्र और निष्कलुप सौन्दर्य के उपासक रहे हैं। 'वाणभट्ट की आत्मकथा' और 'चारु चन्द्रलेख' की भांति 'पुनर्नवा' में भी उन्होने नारी सौन्दर्य को शाश्वत माना है। मंजुला का सौन्दर्य उसके नृत्य और संगीत कला मे घुलमिलकर एकाकार हो गया है ''उसकी बड़ी-बडी काली आंखे कटाक्ष विशेष की घूर्णमान परम्पराओं का इस प्रकार निर्माण कर रही थीं, जैसे नीलकमलों का चक्रवात ही चंचल हो उठा हो, शरतकालीन चन्द्रमा के समान उसका मुखमण्डल चारियों के वेग से इस प्रकार घूम रहा था कि जान पड़ता था, शत-शत चन्द्रमण्डल ही आरात्रिक प्रदीपों की अराल माला में गूंथकर जगर मगर दीप्ति उत्पन्न कर रहे हों। ऐसा लगता था, वह छन्दों से ही बनी है, रागों से पल्लवित हुई है, तानों से सवारी गई है और तालो से ही कसी हुई है।''[22] मंजुला से वियुक्त होने पर देवरात को लगता है, नगर की शोभा, अनुराग की दीपशिखा, कला की प्रतिमा, छन्दों की रानी, तालों की नर्मसंगिनी, शृंगार की रंगस्थली, सम्मोहन की सूत्रधारिणी मजुला चली गयी।''[23]

पुरुष सौन्दर्य का निदर्शन गोपाल आर्यक के रूप के होता है ''तीन वर्ष के भीतर आर्यक अब सिंह किशोर की भांति पराक्रमी दिख रहा था। उसकी चौड़ी छाती, विशाल बाहु और कसा हुआ शरीर वरबस आखो को आकृष्ट करते थे। उसकी गति में अन्तर्मदावस्था गजराज की भांति मस्ती थी और आंखों में शार्दूल के समान अंकुतोमय भाव लहरा रहे थे।''[24]

आर्यक का शारीरिक गठन जहा उसके अदम्य पौरुष की सूचना देता है, वहीं माढव्य का रूप चित्रण विदूषक का रूप खडा कर हास्य की सृष्टि करता है, ''उसके शरीर पर यज्ञोपवीत इस प्रकार दिखाई दे रहा था, जैसे किसी वबूल के पेड़ पर मालती

की माला आड़ी करके डाल दी गई हो। उसके ललाट पर त्रिपुण्ड की धवल रेखाए पसीने से बुरी तरह क्षत-विक्षत हो गयी थीं। ऐसा जान पड़ता था कि अकाल वृष्टि के कारण मरुभूमि अचानक छोटे-छोटे नालों से सिक्त हो गयी है। उसके होठ मोटे-मोटे और नाक चपटी थी। छोटी-छोटी आंखें बिल्व फल में चिपकायी हुई कौड़ियो की तरह आकर्षक दीख रही थी।''[25] चन्द्रमौलि के रूप चित्रण में पुनर्नवाकार ने उसकी सौम्यता और मनोहरता का उद्घाटन किया है। ''उसका कद लम्बा था, शरीर गौरवर्ण था और पहनावे में कौशेय उत्तरीय और कौशेय अधोवस्त्र भी थे। शिखा में, गले में और बाहु मूल में उसने मालती की माला धारण कर रखी थी।''[26]

मृणालमंजरी अपनी क्लान्ति में भी सौन्दर्य वृष्टि करती है। उसके उदास गाम्भीर्य में भी विशिष्ट प्रकार का तेज आ गया था, ''उसकी परिपाण्डु दुर्वल देह वल्लरी हेमन्त की दुर्वह वायु से परिम्लान, पत्रहीन लता के समान करुण हो गयी थी पर आंखों में एक प्रकार की विशिष्ट ज्योति भी आ गई थी, जैसे शाण घर्षित मणि हो, शरतकालीन कमलिनी के उत्फुल्ल कमल हो। देवरात की कन्या क्षीण होकर भी दीपवर्तिका सी जल रही है, निराभरण होकर भी तारकहीन आवेश में परिपूर्ण शुभ्रचन्द्र कला की भांति प्रदीप्त हो रही है।''[27]

द्विवेदी का सौन्दर्य दर्शन किसी भी प्रकार से नारी सौन्दर्य को हेय नहीं समझना चाहता। आधुनिक जीवन प्रणाली अथवा फैशन के अनुसार उन्होने नारी को कहीं भी निर्वसन नहीं दिखाया है। चन्द्रा अपने विचारों से आधुनिक नारी का प्रतिनिधित्व करती अवश्य है परन्तु उसका सौन्दर्य और शृंगार परम्परा से चले आ रहे शृंगार का अनुकरण ही है, ''चन्द्रा एक बहुत साधारण हल्की नीली साड़ी पहने थी। उसका सुन्दर मुख सूखा-सूखा दिखाई दे रहा था। अधरोष्ठ काले पड़ गये थे। अलंकार के नाम पर एक सोने का कंगन हाथों मे इस प्रकार झूल रहा था मानों अब गिरा, अब गिरा। गोल गोरे मुख के ऊपर केश लटिया गये थे पर सिन्दूर की मोटी रेखा सावधानी से अंकित दिखाई दे रही थी।''[28]

आचार्य द्विवेदी का सौन्दर्य वर्णन अद्भुत और चमत्कारपूर्ण होता है और पात्र के प्रति पाठक के मन मे असीम उत्सुकता उत्पन्न कर देता है। वृद्धा तपस्विनी को देखकर शार्विलक को दिव्य अनुभूति होती है–'' इस वृद्धावस्था में भी उनके मुखमंडल से दीप्ति सी झड़ रही थी। ललाट दर्पण के समान चमक रहा था। सम्पूर्ण शरीर से शालीनता बिखर रही थी। क्या पार्वती भी वृद्ध होती है। साक्षात् पार्वती ही तो हैं। क्या शोभा ने वैराग्य धारण किया है, क्या तपस्या भी तप करती है, क्या कांति भी शरीर धारण करती है, दीप्ति को भी वार्द्धक्य का बाना धारण करना पडता है।''[29]

द्विवेदी जी का सौन्दर्य दर्शन शिष्टता, शालीनता और दिव्यता का अद्भुत सगम है। सौन्दर्य से व्यक्तित्व के आन्तरिक गुणों का उद्घाटन होता है। यह सौन्दर्य शोभा और शालीनता के सम्मिश्रण से बना है।

द्विवेदी जी का जीवन दर्शन मानवीय मूल्यों की स्थापना के उद्देश्य से हुआ है। इस हेतु उन्होंने इतिहास और परम्परा का आंकलन किया है तथा प्राचीन परम्परा के विशिष्ट गुणो की रक्षा की है। उनका जीवन दर्शन भावात्मक उदात्तता लिये हुए है। आस्था और विश्वास, त्याग और बलिदान, सेवा, समर्पण आदि मूल्य उनकी भावमयता के ही अंग है। द्विवेदी जी का जीवन दर्शन प्रणय के रस से सराबोर है किन्तु उन्होंने प्रेम का अदृप्त रूप प्रस्तुत किया है। जो पाठकीय चेतना को एक ऐसे स्थान पर प्रतिष्ठित कर देता है, जो सारे संघर्षो व खुरदरेपन से अलग हटकर जीवन दायिनी शक्ति से भर देता है। इस अर्थ में द्विवेदी जी हमें कालिदास की नवनवोन्मेष शालिनी भावित्री प्रतिभा से जुड़े अनुभव होते हैं। उनका मानवतावादी दृष्टिकोण विश्वचेतना से जुड़ा हुआ एव कलात्मक सौन्दर्य के शिखर को स्पर्श करता प्रतीत होता है।

***

संदर्भ :

1 साहित्य संगम, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, सं. रामकुमार गुप्त, संकलित निबन्ध, पृष्ठ–112
2 विचार-प्रवाह, पृष्ठ–211
3. पुनर्नवा, पृष्ठ–21
4 पुनर्नवा, पृष्ठ–159
5 पुनर्नवा, पृष्ठ–124
6 पुनर्नवा, पृष्ठ–279
7 अंतरंग पहचान, डॉ प्रेमकुमार, पृष्ठ–
8 पुनर्नवा, पृष्ठ–278
9 साहित्य संगम, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, सं रामकुमार गुप्त, संकलित निबन्ध, पृष्ठ–211
10 पुनर्नवा, पृष्ठ–80-81
11 पुनर्नवा, पृष्ठ–167-168
12 साप्ताहिक हिन्दुस्तान, पाण्डित्य परम्परा में द्विवेदी का स्थान, वर्ष 29, अंक 36, पृष्ठ–13
13 साप्ताहिक हिन्दुस्तान, स्मृति शेष की स्मृति, डॉ. नामवरसिह, वर्ष 29, अंक 36, पृष्ठ–13
14 पुनर्नवा, पृष्ठ–173
15 पुनर्नवा, पृष्ठ–173
16 पुनर्नवा, पृष्ठ–116
17. पुनर्नवा, पृष्ठ–125
18 पुनर्नवा, पृष्ठ–37
19 पुनर्नवा, पृष्ठ–37
20 पुनर्नवा, पृष्ठ–96
21. हिन्दी उपन्यास · अंतरंग पहचान, डॉ. प्रेमकुमार, पृष्ठ–160
22. पुनर्नवा, पृष्ठ–12
23 पुनर्नवा, पृष्ठ–28
24 पुनर्नवा, पृष्ठ–34
25. पुनर्नवा, पृष्ठ–87
26 पुनर्नवा, पृष्ठ–87
27 पुनर्नवा, पृष्ठ–109
28 पुनर्नवा, पृष्ठ–144
29 पुनर्नवा, पृष्ठ–146

'पुनर्नवा'का शैल्पिक स्वरूप

कलाकार अपनी भावनाओ का मूर्तन करने के लिये विविध माध्यमो का आश्रय लेता है। ये माध्यम कला, धर्म, दर्शन व भाषा के होते है। अनुभूतियों को प्रच्छन्न रूप से प्रकट करने वाले इन माध्यमों के विविध कलारूपो को शिल्प कहते हैं। शिल्प कला रचना का आदर्श है, यथार्थ उसे नहीं मानना चाहिए।

'पुनर्नवा' हजारी प्रसाद द्विवेदी की नूतन कल्पनाओं के धागे से बुनी अनुभूतियों के गाढ़ रंगो से सज्जित पाण्डित्य व भाषा के अलंकारों से विभूषित कलाकृति है।

औपन्यासिक कथ्य :

'पुनर्नवा' (1973) चौथी शताब्दी की घटनाओ पर आधारित उपन्यास है। 'पुनर्नवा' तत्कालीन समाज की संवेदनाओं, जीवन की विविध चित्रशालाओं, लोक संस्कृति, सौन्दर्य, अपरूपता व प्रेम सम्वन्धों के विविध रूपों को प्रस्तुत करता है। 'पुनर्नवा' में मुख्य कथा के साथ कई प्रासंगिक कथाये चलती हैं जो युग, समाज व लोकाचार का स्वरूप उद्घाटित करती रहती हैं। 'पुनर्नवा' के सभी पात्र अन्त में अपनी व्यक्तिगत कुंठायें समष्टिहित के लिये होम कर कर्त्तव्य क्षेत्र में उतर जाते है। 'पुनर्नवा' उपन्यास के कथासंगठन में द्विवेदी जी के पूर्ववर्ती उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'चारुचन्द्रलेख' में कथा मुख और उपसंहार जोड़कर जिस औपन्यासिक छ्ल का, जो कि शिल्प का अविभाज्य अंग थे, विन्यास किया गया था, 'पुनर्नवा' मे उसका अभाव है। 'पुनर्नवा' का प्रारम्भ आख्यान पद्धति से हुआ है। देवरात के परिचय से उपन्यास का आरम्भ होता है। एक प्रकार से देवरात कथा के सूत्रधार हैं। कथा अविराम गति से चलती रही है। वीच-वीच में प्रासंगिक कथायें भी आयी हैं और मुख्य पात्र उनकी घटाटोप में खो से गये हैं, फिर भी पाठक की उत्सुकता ज्यो की त्यों बनी रहती है। द्विवेदी के पूर्ववर्ती उपन्यास विचित्र रहस्यलोक का निर्माण करते हैं, जिसके रहस्य, रोमांच से पाठक तव तक मुक्त नहीं होता, जब तक कि वह उपन्यास पढकर समाप्त नहीं कर लेता किन्तु 'पुनर्नवा' में पाठक रहस्य से कटकित न होते हुए सहज भाव से रसास्वादन का आनन्द लेते है।

'पुनर्नवा' के कथा संगठन की एक और विशेषता यह है कि उन्होंने ऐतिहासिकता का निर्वाह करने के लिए समुद्रगुप्त, यज्ञसेन, रुद्रसेन और चन्द्रसेन जैसे ऐतिहासिक पात्रों का आधार भर ग्रहण किया है परन्तु अपने शिल्प कौशल्य और शैली चातुर्य के माध्यम से वे ऐतिहासिकता की सृष्टि अवश्य कर लेते है। उनका ऐतिहासिक वातावरण का निर्माण इतना विश्वसनीय होता है कि पाठक को आभास ही नहीं हो पाता कि वह कल्पना की गलियो में विचरण कर रहा है। इस प्रकार द्विवेदी जी ने कल्पना और इतिहास का मनोरम सम्मिश्रण किया है।

'पुनर्नवा' उपन्यास का नामकरण भी अपना अलग वैशिष्ट्य रखता है। द्विवेदी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'चारु चन्द्रलेख' तथा 'अनामदास का पोथा' इन तीनो उपन्यासो का नामकरण व्यक्ति विशेष के संदर्भ में किया है किन्तु 'पुनर्नवा' इस दृष्टि से इन तीनों ही उपन्यासों से भिन्न है। इस शीर्षक के माध्यम से पुनर्नवाकार सदेश देता है कि मानवीय मूल्य जो बासी हो गये है उन्हें बदलो और सामाजिक व्यवस्थाओं के नवीन रूप को स्वीकारो। औषधिशास्त्र में 'पुनर्नवा' एक ऐसी वनस्पति का नाम है जो अनेक रोगों में औषधि का काम करती है। देहात में इसे 'गदहपुन्ना' कहते हैं। यह फोड़े की अचूक दवा है। इस वनस्पति की सर्वसुलभता और उपयोगिता इसके महत्त्व को असंदिग्ध बनाती है। 'पुनर्नवा' का शाब्दिक अर्थ है,-प्राचीन को फिर से नया करना अर्थात् जो बासी है, उसे पुन: ताजा करना। मानव जीवन चक्र निरन्तर गतिमान हैं किन्तु इसके इस प्रवाह में कुछ तत्त्व बीच में आकर इसके प्रवाह को रूद्ध कर देते है और गतिभंग होने से जीवन शिथिल होकर जड बनने की प्रक्रिया से गुजरने लगता है। 'पुनर्नवा' ही जड़ बनने की इस प्रक्रिया से मानव मात्र को मुक्ति दिला सकती है। देवरात की जड़िमा मंजुला को पाकर टूटने लगती है और 'पुनर्नवा' के रूप मे मंजुला को पाकर वे अपने को पुन: स्वस्थ अनुभव करते है तथा अन्य पात्रो के लिए आदर्श और प्रेरणा बनकर उभरते है, '' 'पुनर्नवा' देवी तुम नित्य नवीन होकर मानस पटल पर उदित होती हो। जानती नहीं, किस मर्मवेदना को जगा जाती हो, किस बासी घाव को नया कर जाती हो। देवरात स्वयं मुरझा गया है, उसमें 'पुनर्नवा' के स्वागत करने की क्षमता नहीं है। 'पुनर्नवा' बनकर नित्य आती रहो तो तुम्हारा थोड़ा कष्ट, किसी को हरा कर जाय, तो किसी को क्या हर्ज है ? देवि। नहीं, तुम नित्य नवीन होकर हृदय में उतरा करो। नित्य नवीन होकर मेरी 'पुनर्नवा' रानी।'' [1] उपन्यास का कथ्य इसी नवीन चेतना और जागृति में निहित है। सभी प्रमुख पात्र इसी चेतना से अभिभूत हैं।

उपन्यास का नायक गोपाल आर्यक है। नायक के साथ-साथ अन्य चरित्र भी बड़ी सशक्तता से उभरे हैं। कथा की समग्रता का निर्वाह करने के लिए उपन्यासकार ने ऐतिहासिक पात्रों की अपेक्षा काल्पनिक पात्रो का आधार लिया है।

पात्रों का चरित्र विधान :

द्विवेदी जी के पात्र सामान्य पात्र न होकर अपने व्यक्तित्व की विशिष्टताओं से ऊपर उठ जाते हैं। ये पात्र न केवल अपने व्यक्तित्व की विशिष्टताओं को उजागर करते हैं अपितु अपनी सभी चारित्रिक दुर्वलताओ को भी सामने रखते है। 'पुनर्नवा' उपन्यास के फ्लैप की टिप्पणी पर एक ओर जहां इसे लोकापवादों से दिग्भ्रान्त चरित्रो की कहानी कहा गया है, जो वस्तुस्थिति की कारण परम्परा को न समझकर समाज से ही नहीं, अपितु अपने आपसे भी पलायन करते है और कर्तव्याकर्तव्य का बोध उन्हे नहीं रहता। 'पुनर्नवा' ऐसे हीन चरित्र व्यक्तियो की कहानी भी है जो युग-युग से समाज की लांछना

सहते आये हैं किन्तु शोभा और शालीनता की कोई किरण जिनके अन्तर में छिपी रहती है और एक दिन वही किरण ज्योतिपुंज यनकर न केवल उनके अपने बल्कि दूसरो के जीवन को भी आलोकित कर देती है।''[2]

'पुनर्नवा' के ये पात्र चरित्र व गुणो की दृष्टि से हीन नहीं है परन्तु सामाजिकों की दृष्टि में निम्न हैं। इन पात्रों में अनाथ, गणिका व समाज की प्रतारणाओ से ग्रस्त व्यक्ति सम्मिलित हैं। इन पात्रों में जिजीविषा बहुत प्रबल है और यही विशेषता इन्हें व्यष्टि के संकीर्ण पथ से समष्टि के राजमार्ग की ओर ले जाती हैं।

'पुनर्नवा' पात्रों की दृष्टि से समृद्ध है। सभी पात्र निजी व्यक्तित्व से युक्त है। "सम्राट, सेना के अधिकारी, कर्मचारी, प्रशासक, न्यायाधीश, नृत्य-गीत विशारद, कवि, अध्यापक, धर्माचार्य, भक्त, संन्यासी, ग्रामीण, नागरिक, सत-असत्, स्थिर-गतिशील, निम्न, मध्य, उच्चवर्ग से संबंधित धीर, वीर, गम्भीर, ललित, वालक, किशोर, युवा, वृद्ध, सामान्य, असामान्य, स्त्री, पुरुष, परम्परावादी, प्रगतिशील, शिक्षित, अशिक्षित, धर्मसमर्थक, सहज, कुंठित, अन्तर्मुखी, वहिर्मुखी, सम्मानित, अपमानित, गम्भीर, हंसोड़, मर्यादित, अमर्यादित, फक्कड़, सजीव अनेक प्रकार के पात्र 'पुनर्नवा' में उपलब्ध हैं।''[3]

देवरात ज्ञान और भाव के अगाध कोष स्वयं में संचित किये हुए हैं। अपने सद्गुणों व यश के द्वारा वह अपने प्रान्त के अतिरिक्त अन्य नगरो में भी प्रतिष्ठित हैं। संभवत तृष्णाओं की अपूर्ति ही उन्हे अपने आप को भुलाकर समाज सेवा के मैदान में खींच लाती है। जयशंकर प्रसाद प्रणीत 'चन्द्रगुप्त' नाटक के पात्र चाणक्य की भाति देवरात सभी पात्रो को कृतित्व शक्ति प्रदान करते है किन्तु उपन्यास के अन्त में निर्लिप्त रहकर अन्त में फलसिद्धि के लक्ष्य से दूर ही रहते हैं। उनकी यह वेदना सहृदय पाठक के हृदय में टीस छोड़ जाती है। देवरात सूत्रधार की भांति कथा के सभी सूत्रों को संभाले हुए हैं। उपन्यास में देवरात को स्वतंत्र किया हुआ है। द्विवेदी जी के व्यक्तित्व, पाण्डित्य, उनका चिंतन और उनके साहित्यिक व्यक्तित्व के सृजन की चरम परिणति देवरात में मुखर हो उठी है। यौधेय वंश के प्रख्यात क्षत्रिय राजपरिवार में उत्पन्न देवरात प्रजा के अत्यन्त प्रिय थे। उन्होने अपने शौर्य से हूणो के बर्बर आक्रमण को रोककर उन पर विजयी पायी किन्तु विमाता के षडयंत्र से वे जीवन सर्वस्व अपनी पत्नी शर्मिष्ठा के रूप में खो बैठे और जीवन से विरक्त हो उठे और यही विरक्ति उन्हें दीन-दुःखियो की सेवा में रत कर देती है। उनके व्यक्तित्व में विचित्र सम्मोहन था और यही सम्मोहन मंजुला को उसके अहं से विमुक्त कर खींच लाता है। मंजुला के कला सौन्दर्य को उनका पारखी हृदय अवश्य पसंद करता है किन्तु वासना का अश उसमें नहीं है। मृणालमंजरी के प्रति उनके उद्गार एक पिता के अपनी पुत्री के पति सच्चे उच्छ्‌वास है।

देवरात वास्तविक अर्थ में संस्कृत राजपुरुष है। उन्होंने अपने वैयक्तिक प्रेम को लोकोन्मुखी बना दिया है। वे विदेह संस्कृति के अवशेष है और कला के सच्चे पारखी है। भारतीय संस्कृति के महानुभावों की परछाइयां उनके व्यक्तित्व पर पडी हैं।

कथानायक गोपाल आर्यक अद्‌भुत पराक्रमी, उत्साही व प्रतापी होने के पश्चात् भी 'लोग क्या कहेगे' इस लोकापवाद के आतंक के समक्ष पराजित हो जाता है और इतस्ततः अपने आप को छिपाता रहता है। विविध घटनाचक्रों से गुजरने के पश्चात् वह आत्मविश्वास प्राप्त कर स्वयं को प्रकट करता है। उपन्यास का नायक गोपाल आर्यक ही है क्योंकि फल प्राप्ति उसे ही होती है। देवरात के सान्निध्य में जब तक वह रहता है, तब तक वह एक साहसी, क्रान्तिकारी पुरुष के रूप में उभरता है। गणिका पुत्री मृणालमंजरी को पत्नी रूप में स्वीकार वह समाज की रूढ़िवादिता को चुनौती देता है। गोपाल आर्यक वीर पुरुष है, सम्राट समुद्रगुप्त का वह निकटस्थ मित्र है और हलद्वीप का भावी शासक। राजा पालक को अपने पौरुष से परास्त कर वह प्रजा को अत्याचारी शासक से मुक्त कराता है। वृद्धगोप व देवरात के प्रति उसकी श्रद्धा उसे आदर्श पुत्र का और श्यामरूप के प्रति निबाही हुई सहृदयता उसे आदर्श बन्धु का दर्जा देते हैं। यह पात्र पाठक के मन में बड़ी-बड़ी संभावनाओ की सृष्टि करता है किन्तु चन्द्रा के प्रसंग में वह भगोडे का रूप धारण करता है। अन्त में वह अपने व्यक्तित्व के रूद्ध द्वारों को खोलता हुआ राज्य के सर्वोच्च शिखर पर पहुंचता है।

सम्राट समुद्रगुप्त का चरित्रांकन परम्परा से हटकर है। सम्राट समुद्रगुप्त में आदर्श शासक की प्रतिमा को उभारा गया है किन्तु उसकी दुर्बलताओं की नब्ज को भी पुनर्नवाकार ने पकड़ रखा है। समुद्रगुप्त प्रजाहित संरक्षक, महावीर व बुद्धिमान है किन्तु बिना सोचे समझे काम कर बैठने वाला भी है। उसकी इसी विशेषता के कारण आर्यक को अपने आप से छिपना पडा। उसकी सहृदयता व मित्रता का परिचय चन्द्रमौलि से वार्ता के मध्य व आर्यक को पुनः पाकर आलिंगनबद्ध हो जाने में मिलता है।

सुमेर काका का चरित्र पर्याप्त प्रभावोत्पादक और आकर्षक है। सुमेर काका शिक्षा के सैद्धान्तिक पक्ष से अपरिचित होकर भी अपनी अनुभव प्रवणता व व्यावहारिकता से समाज में अपना विशिष्ट स्थान स्थापित किये हुए हैं। उनका निर्भीक व्यवहार किसी मान्यता को अपने ऊपर ओढ़ने नहीं देता। कबीर की सी फक्कड़ाना, मस्ती सुमेर काका को वैशिष्ट्य प्रदान करती है। इसके अतिरिक्त उनका वात्सल्य भाव सर्वोपरि है। मृणाल और चन्द्रा के सन्दर्भ में यह प्रकाशित हुआ है।

माढव्य उस व्यक्तित्व को उभारता है जो किन्हीं कारणों से उत्पन्न हुई कुंठा को हास्य व्यंग्य के चाबुक से दूर हटा देते है। चन्द्रमौलि के चरित्र को भी पुनर्नवाकार ने मनोविश्लेपण की कसौटी पर प्रस्तुत किया है। चन्द्रमौलि प्रेम की असफलता को कविकर्म से धो देना चाहता है। उसकी कविता उसके हृदय के उद्‌गारों का प्रच्छन्न

निष्कासन है।

भटार्क स्वामीभक्त, महावीर, सहिष्णु व उदार सेनापति के रूप में व चारुदत्त आदर्श गृहस्थ, प्रेमी, मित्र के रूप में, आचार्य पुरगोभिल स्पष्टवक्ता, चिन्तक व निष्पक्ष न्यायाधीश के रूप में उभरते है।

नारी चरित्रों के चरित्रांकन में पुनर्नवाकर की वृत्ति सर्वाधिक रमी है। मंजुला, मृणाल, चन्द्रा, धूता, वसन्तसेना, मांदी, प्रौढ़ा भाभी, वृद्धा मां आदि नारियों के विविध रूप हैं। यह सभी नारियां समाज के हीनतर वर्गों से ली गयी हैं किन्तु लेखक की दृष्टि इनकी ओर सहानुभूतिपूर्ण रही है और उन्होंने इन नारियों को आदर्श व देवी रूप में चित्रित किया है।

चन्द्रा के चरित्र-चित्रण में उपन्यासकार ने सर्वाधिक ध्यान दिया है। चन्द्रा परम्परा सिद्ध मान्यताओं को नकारती हुई अपने व्यवहार का औचित्य स्वयं सिद्ध करती चलती है। चन्द्रा अपने नपुंसक पति के साथ रहने से इन्कार करती हुई आर्यक को अपना मनोवृत्त पति मानती है। उसके साथ रहने की चेष्टा करती है। उसके इस व्यवहार की सामाजिक निन्दा करते हैं। उस पर लांछन लगाते है किन्तु वह सभी आक्षेपों का जवाब देती हुई स्वयं को कलुवधूओं की शिरोमणि मानती है। इतना ही नहीं, आर्यक की परिणीता मृणालमंजरी के साथ रहने लगती है।

आधुनिक नारी के से स्वतंत्र और प्रगतिशील विचारों की वाहिका चन्द्रा पति को देवता मानकर उसकी अच्छाइयों, बुराइयों के प्रति सहृदय दृष्टिकोण अपनाते हुए भी अपने निज के अस्तित्व को उसमें लीन नहीं करना चाहती अपितु अपनी निजी पहचान बनाये रखना चाहती है। चन्द्रा का असंयमित वासना का आवेग मृणाल व शोमन को पाते ही वात्सल्य में परिवर्तित होने लगता है। "चन्द्रा में इच्छाशक्ति व क्रियाशक्ति दोनों की ही प्रबलता है लेकिन दोनों शक्तियां अलग-अलग होने के कारण अधिक गरिमा मंडित नहीं हो पाती।"[4] फिर भी वह अन्य नारी पात्रों की अपेक्षा अपना स्पष्ट अभिज्ञान रखती है। "चन्द्रा का चरित्र विविध विरोधी किन्तु समन्वित भावों से मिलकर बना है। उसका उद्दाम आवेग, समाज के संघर्षशील व्यक्तित्व, वात्सल्य, सेवाभाव व ईमानदार अभिव्यक्ति के विविध रंग अपनी बहुरंगी छटा से उसके व्यक्तित्व को अनूठा बना देते हैं।"[5]

मंजुला सामन्ती व्यवस्था की स्त्री है। गणिका होने के कारण उसका व्यक्तिगत जीवन खत्म हो जाता है। अन्ततः वह आत्मोन्नयन के द्वारा देवीस्वरूप प्राप्त कर लेती है।

मृणालमंजरी का चरित्र नारीत्व के उदात्त गुणो को मथकर प्राप्त नवनीत से बना है किन्तु चरित्र की दृढता उसे आततायियों का मुकाबला करने में सक्षम बनाती है। आर्यक के द्वारा छोड़ दिये जाने पर वह नारियों के संघर्षदल का निर्माण करने हेतु प्रयत्नशील होती है। अन्त में अपनी त्यागशील मनोवृत्ति का उदाहरण देते हुए चन्द्रा का हाथ आर्यक के हाथों में सौंपकर निश्चिंत हो जाती है। देवरात के आश्रम मे पली

मृणालमजरी अपने सौंदर्य व सात्विकता से कालिदास की शकुन्तला की स्मृति कराती है। मेनका की पुत्री शकुन्तला की तरह मंजुला नामक गणिका की पुत्री होने पर भी मृणाल कण्व ऋषि के तुल्य देवरात द्वारा पालित होती है। भारतीय नारी का आदर्श पत्नी के रूप पति में वास्तविक रूप से अनुरक्त होकर गृहस्थ धर्म का निर्वहन करना है। नारीत्व के सभी गुण उसके भीतर हैं। किशोरावस्था की सहज लज्जा से प्रस्फुटित होता हुआ उसका प्रणय युवा होने पर आदर्श पत्नी और फिर आदर्श मां के रूप में निखरता है। पति के विवाहेत्तर सम्बन्धो की जानकारी होने पर भी वह कहीं भी उसके प्रति कटु नहीं हो पाती। वियोगी की अवस्था में होने पर भी वह देशवासियों में राष्ट्रीय चेतना का मंत्र फूँकती है और चन्द्रा को अपनी वडी बहन के रूप में स्वीकार करती है।

इस प्रकार मृणाल का चरित्र कामायनी की श्रद्धा की तरह उभरता है, जो एकाकी रहकर संघर्षों की भीषणता को झेलती है, लेकिन कहीं भी झुकती नहीं, हारती नहीं।

बसन्त सेना, मांदी व नटमण्डली की स्त्रियों का भी यत्किंचित चरित्र विश्लेषण पुनर्नवाकार करता चलता है। संभवत· इसी कारण वे उभर नहीं पाते। मृणाल के पुत्र शोभन के चरित्र विश्लेषण में लेखक की अभिरुचि ही नहीं है। चरित्र के विकास में पात्र स्वतत्र नहीं होकर लेखक के पूर्वाग्रह से ग्रस्त है। लेखक इन्हें स्वतंत्र नहीं छोडता अपितु स्वयं भी इनके साथ-साथ चलता रहता है। पात्रों की परस्पर टकराहट परिस्थिति जन्य चरित्र स्थिति नहीं है। कह सकते है कि लेखक ने कथा के विविध सांचो का पहले से निर्माण कर रखा था और अब पात्रो को उसमें फिट कर दिया है। लेखक अपनी किन्हीं धारणाओ व मतो का प्रचार इन पात्रो के माध्यम से करता चलता है। 'पुनर्नवा' के पात्रो के असंभाव्य संभावनाओ की प्रबलता, गौरव, महिमा, अद्‌भुत त्याग, मनोभावों की श्रेष्ठता, आचरण की उच्चता आदि उन्हें अद्‌भुत व विशिष्ट बनाते है। उनकी धारणाये और भूमिकाये आकर्षक और अनुकरणीय तो लगती है किन्तु सुप्राप्य और सहज सम्भव नहीं लगती।''[6] 'पुनर्नवा' के पात्रों की नियति की डोर लेखक ने अपने हाथों में रखी है।

भाषिक संरचना और शिल्प :

'पुनर्नवा' भाषिक दृष्टि से विशिष्ट है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' 'चारु चन्द्रलेख' की अपेक्षा 'पुनर्नवा' की भाषा सुगम और बोधगम्य है। 'पुनर्नवा' रचना, शिल्प, इतिहास, समकालीन जीवन, धर्म और कला की दृष्टि से भी बड़ी महत्वपूर्ण कृति है। औपन्यासिक कथ्य को कल्पना वैभव के द्वारा समृद्ध कर दिया गया है। 'मृच्छकटिकम्', लौरिक चन्द्रा और कालिदास (चन्द्रमौलि) की कथाओं द्वारा इसे गूंथा गया है। कल्पना और शिल्पगत सूक्ष्मताओं को परस्पर गूंथ दिया गया है अतएव इनका पारस्परिक सम्बन्ध इतना सगुफित है कि इनका पृथक्करण कठिन है। तथापि कुछ कथाओं को लेखक ने अनावश्यक रूप से विस्तार दिया है। यह

शिल्पगत दोष है और कथाप्रवाह की गति अवरूद्ध करता है। वृद्ध ब्राह्मण-ब्राह्मणी, शोमन, नट-नटी आदि के वर्णन मुख्य कथा से जुड़कर कोई योगदान नहीं देते।

भाषिक संरचना के रूपनिर्धारण मे द्विवेदी जी ने तात्कालिक ऐतिहासिक परिवेश को दृष्टिगत किया और परिवेश चित्रण की समग्रता में इन्होने सम्प्रेषणीयता को नहीं त्यागा है। भाषा के भी विविध रूप उपन्यास में है। भाषा भावो की अनुवर्ती होकर चलती है और परिस्थिति व प्रसगानुसार अपना रूप परिवर्तित करती रहती है। चन्द्रमौलि, देवरात आदि के रूप में जहा वह अपनी सस्कृतनिष्ठ रूप छठा बिखेरती है, वहीं माढव्य, सुमेर काका, रेमिल आदि पात्रों के माध्यम से तद्भव देशज शब्दों को अपने में समाहित करती चलती है।

चन्द्रमौलि के वाक्यों में भाषा भावो में गहनता से प्रवेश कर दृश्य को बिम्ब रूप में साकार प्रस्तुत कर देती है। भावों का निर्झर छल-छल प्रवाहित होता हुआ भाषा के माध्यम से प्रवाहित सा होने लगता है। माढव्य के पूछने पर कि क्या उसने अकेले विंध्याटवी पार की ? उसने वन की सम्पूर्ण मनोहरता का बड़ा स्वाभाविक चित्रण किया है, ''बड़ा ही मनोहर दृश्य है वह आर्य, जब बादल ऊपर छा जाते है और नीचे हरे कदम्ब के फूलों पर भौंरे मंडराते हैं और कच्छ भूमि में कदली पुष्प इस प्रकार प्रफुल्लित हो उठते हैं जैसे प्राणधारा ही पाषाणखण्ड को भेदकर ऊपर उठ आयी हो। दूर तक केवल पुष्पो की सुगन्ध, वल्लरियों का उल्लास नर्तन, वृक्षों की स्तब्ध समाधि पाषाण परम्परा में जीवन के संगीत का स्वर भरती रही है।.. क्षुद्र जलाशय में मोथो के अंकुर कुतरते हुए वन्य वराहों की विश्रब्ध आनन्ददायिनी मुद्रा का रसास्वादन किया है।..... परन्तु आर्य माढव्य, मेरा हृदय इन सारे तृप्ति और आनन्द के दृश्यों के भीतर की भयंकर मरुभूमि की भांति झांय झांय करता रहा है। रस के उद्वेलित समुद्र में वह पिपासाकुल बना रहा है।''[7]

चन्द्रमौलि का यह कथन द्विवेदी जी के शिल्पकार के उस रूप को प्रकट करता है, जिसमें मानवीय भावुकता प्राकृतिक उपादानो के प्रति स्नेह व कवि हृदय की भाव सम्प्रेषनीयता व्यक्त होती है। चन्द्रमौलि के रूप में पुनर्नवाकार ने कालिदास को माना है। निश्चय ही द्विवेदी जी का शिल्पकार रूप इतना सशक्त रहा है जिसके लिए ''यह काम सिर्फ पाण्डित्य के बल पर संभव नहीं था। इसके लिए उस दुर्लभ कल्पनाशक्ति की आवश्यकता होती है, जो अपने युग के सामान्य मनुष्य और अपने जीवनानुभवो से आलोक लेकर अतीत को सार्थक एवं संदर्भवान बनाती है।''[8]

द्विवेदी जी की शिल्पकला इन दोनो का सम्यक् सम्मिश्रण करती चलती है। 'पुनर्नवा' का ऐतिहासिक परिवेश उसके भाषिक स्तर से जुडकर सम्यक् रूपेण उभरता है। वाक्य शब्द व पारस्परिक वार्तालाप तत्युगीन परिवेश को उभारने के साथ-साथ पात्रो की मन.स्थिति के सूचक भी है। माढण्य के कथनो से जहा तत्कालीन राजदरबार और राजकवियों का परिचय मिलता है वहीं उसका विनोदी रूप भी उभरता है,

''पहला काम करना होगा उज्जयिनी में चलकर राजा की स्तुति करना, बढ़िया श्लोक बनाकर। . ... किसी देवता का यशवर्णन करके अन्त मे कह दो, पातुवः (तुम्हारी रक्षा करे) वह जो तुम्हारी व्याकुल वेदना वाली बात है न, उसे मेरे जैसे मूर्खों को मत बताना। उज्जयिनी में उनकी संख्या कम नहीं है।''[9]

'पुनर्नवा' की शब्दावली भी देश काल के अनुरूप तत्सम प्रधान है। पूरे उपन्यास में सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि हेतु उन्होंने संस्कृतनिष्ठ, अलंकृत भाषा का प्रयोग किया है। रेभिल जैसा ग्रामीण पात्र भी चारुदत्त और बसन्तसेना का गुणगान करते हुए संस्कृतनिष्ठ शब्दों का प्रयोग करता है–''क्या कहना है आर्य चारुदत्त का। ऐसा रूप, ऐसा शील, ऐसा विनय, ऐसा औदार्य संसार में दुर्लभ है। सुना है आर्य कि नगर की श्री बसन्तसेना उनके गुणो पर मुग्ध है। गणिका होने से क्या हुआ, उसके समान पतिव्रता मिलना भी दुर्लभ ही है।''[10] इसके अतिरिक्त ककणवलय, भावानुप्रवेश, आजानुविलम्बित, प्रत्यग्र मनोहर, असूर्यम्पश्या, पार्थिव, विग्रह, परिवर्तितव्य, क्षौमवस्त्र, लाक्षारसरंजित आदि सैंकड़ों संस्कृत के दुरूह एवं अप्रचलित शब्दो का भी प्रयोग किया है। इन शब्दों से ऐतिहासिकता का निर्वहन होता है। इनके अतिरिक्त सरल, सहज शब्दावली का प्रचलित रूप भी 'पुनर्नवा' में है। 'टिटकारी, बिछोह, बही, दमादम, सेर-भर, जौ-भर, गमछा, चुन्नट, बम भोलानाथ, ठिठोली, ढीढ आदि देशज-भाषा के शब्द भी पर्याप्त मात्रा में है। देशज भाषा के काका, दादा, मामा, बिटिया, श्वसुर, देवर, भाभी, साली आदि अनेक सामाजिक सम्बन्धो को द्योतित करते शब्द है।

ध्वन्यात्मक शब्दो में घंटे की टनटन, गले की खरखराहट, खनखनाहट, चटचटाहट, चरमराहट आदि अनेक शब्द हैं। अरबी-फारसी शब्दों के प्रयोग ने संस्कृतनिष्ठ शब्दो की क्लिष्टता को दूर कर आधुनिक भाषा की समाहार शक्ति का बोध कराया है। ये अरबी-फारसी के शब्द दैनन्दिन के जीवन में रच बस गए हैं–मकान, निगाह, ज्यादा, मिन्नत, मतलब, बेहोश, शायद, मामूली, पसन्द, जरूर, हालत, साफ, आवाज़, एकदम, चुप्पी, दीवार, बुरा, होश, जवाब, शरारत, दुनिया, रास्ता, जोखिम, राजी, दवा, मुश्किल, नौबत, बेकार, रिश्ता, दरवाजा, हमला, डरावनी, आदि सैकडों अरबी-फारसी के शब्द 'पुनर्नवा' में प्रयुक्त हुए है।

पात्रो की मन.स्थिति उनकी चिन्ता और अंतर्द्वन्द्व को 'पुनर्नवा' का वाक्य-विन्यास सम्यक् रूप से अभिव्यक्त कर पाया है। धूता की चिता से उसके गृहस्थ जीवन के सभी कार्य बाधित होते हैं, पति के वियोग मे वह चिंतित एवं अवसादग्रस्त हो गई है, ''धूता को आज का दिन बड़ा उदास लग रहा है। न जाने क्या हो गया है। वे घर छोड़कर बाहर आ गई हैं। आज पहली बार लक्ष्मी विनायक का पूजन नहीं हो सकेगा, पंजर-शुको को दाना नहीं दिया जा सकेगा, होम की अग्नि प्रज्वलित नहीं की जा सकेगी, आंगन में आलिम्पन-उपलेपन नहीं हो सकेगा, नैवेद्य पुष्पो की डालिया सूनी

रह जाएंगी, पितरों का तर्पण नहीं हो सकेगा, कुल देवताओं का अर्चन नहीं हो सकेगा। आज धूता के सारे नित्य, कर्म उपेक्षित होंगे। हे कुलदेवता, यह कैसी विडम्बना है।''[11]

प्रकृति वर्णन में द्विवेदीजी ने अलकृत और काव्यात्मक भाषा का प्रयोग किया है–''प्रभात होने को आया। कमल पुष्प के मधु से रंगे पंखों वाले वृद्ध कलहस की भांति उदास मंथर गति से चन्द्रमा आकाशगंगा के पुलिन से पश्चिम की ओर चला गया। सारा दिग्मण्डल वृद्ध रंकु मृग की रोमराजि के समान पाण्डुर हो उठा। हाथी के रक्त से रंगे सिंह के सटा भार के समान सूर्य की लाल किरणें आसमान में फैलने लगीं, वन देवियों की अट्टालिकाओं के समान महा वनस्पतियों के शिखरो पर गर्दभ लोम के समान धुंआ सटकर सब कुछ को धूमिल आभा से आच्छादित कर गया–सर्वत्र थकान, क्लान्ति, अलस, मंथर भाव।''[12]

मंजुला के नृत्य को देखकर देवरात 'निर्वात-निष्कम्प दीपशिखा', निस्तरंग जलाशय, 'वृष्टिपूर्व घनघुम्मर मेघमाला' सदृश हो जाते हैं, मंजुला जब उनका अभिवादन कर चरण स्पर्श करती है, तो वे 'ठगे से' 'खोए से', 'हारे से', 'स्तब्ध' चित्रित किए गये है।''[13]

अनेक जीवन्त शब्दों का प्रयोग भी 'पुनर्नवा' में मिलता है, जिससे पात्र के व्यक्तित्व का खाका खींच जाता है, शारीरिक सौन्दर्य के प्रति आसक्त व्यक्ति के लिए 'मुक्खड़ भेड़िए' उनकी रसिकता को 'भोंडी रसिकता' सुमेर काका के सहज उल्लसित व्यक्तित्व के लिए 'फक्कड़ाना मस्ती' जनता के उल्लास को व्यक्त करने के लिए 'उल्लासमय रेल-पेल' और देवरात की लाचारी को 'नपुंसक शाति' जैसे शब्दो से व्यंजित किया गया है।

भाषा की जीवनी शक्ति को, उसकी प्राणवत्ता को बढ़ाने के लिए और लोक जीवन की अभिव्यक्ति मे सर्वाधिक सहायक लोकोक्तियो एवं मुहावरे होते है। पात्रों की अन्तर्दशाओं के उद्घाटन, उनकी मर्म संवेदनाओं, लोक व्यवहार एवं प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति इनके द्वारा सहज ही हो जाती है।

'पुनर्नवा' में मुहावरों और लोकोक्तियों का खुलकर प्रयोग हुआ है। फूट-फूटकर रोना, दिन-दहाड़े लूटना, बुद्धि पर ताला लगना, गधा पचीसी करना, सूखते धान को पानी मिलना, दाम वसूल करना, कलेजे को बेध देना, हंस-हसकर दोहस होना आंखें जुडाना, पैर भारी होना, छाती दुगनी होना, मुंह काला होना, एक म्यान में दो तलवारें रहना, गुड़-गोबर कर देना, रोम-रोम कान बन जाना, सौ बात बडे की एक बात छोटे की मानना, ब्रह्मलीक की तरह वाणी मन में खिंच जाना, हृदय फटकर टुकड़े-टुकड़े हो जाना, चेहरा सफेद होना, भाग्य प्रसन्न जान पड़ना आदि सैकडों मुहावरो एवं लोकोक्तियों के माध्यम से पात्रों के मनोविज्ञान और लोक जीवन के अनुभूत यथार्थ को प्रकट किया गया।

शैली–

द्विवेदी जी के उपन्यासों में शिल्पगत वैचित्र्य के प्रति आग्रह रहा है। 'पुनर्नवा' मे द्विवेदी जी ने विविध शैलियो का प्रयोग किया है। शैली और वर्णन का सम्यक् निर्वाह किया है। संभवत: यही कारण है कि 'पुनर्नवा' में कहीं तो वर्णनो का बाहुल्य है, तो कहीं काव्यात्मकता की लड़ियाँ गूंथी हुई हैं। कहीं फेंटेसी से अवचेतन की गहराइयो को खोला गया है।

सूक्त्यात्मक शैली–

'पुनर्नवा' में सूक्त्यात्मक शैली का प्राचुर्य है। इस शैली के माध्यम से द्विवेदी जी ने शब्दों की मितव्ययता और समूचे अर्थों से युक्त उसकी लाक्षणिकता को उजागर कर दिया है। सूक्तियॉ जीवन के सारे अनुभवो का सार निचोड कर उत्पन्न होती है और इसमें स्वभावत: लेखक का गहन चिंतक रूप छलकता है। 'पुनर्नवा' मे अनेक ऐसी सूक्तिया है–

''राजस्तुति का मतलब तुम नहीं जानते। वह केवल शब्द होता है अर्थ नहीं।''

''मां कहीं न कहीं हार मानने पर ही बच्चे को मारती है।''

''निर्णायक को पांच दोषों से बचना चाहिए–राग, लोभ, भय, द्वेष, एकान्त में वादियों की बाते सुनना।''

इतिवृत्तात्मक शैली–

'पुनर्नवा' में वर्णनात्मकता का आधिक्य है। पात्रों के स्वगत कथन, क्रियाकलाप व सौन्दर्य वर्णन में इसे देखा जा सकता है। स्थिति चित्रण में वर्णनात्मकता के साथ नाटकीयता व दृश्यात्मकता का भी चित्रण है। पुनर्नवाकार प्रकृति चित्रण व सौन्दर्यानुभूति का वर्णन करते-करते भावाभिभूत हो अलंकृत भाषा का आश्रय लेने लगता है। भावावेग मे पात्र लम्बे-लम्बे इतिवृत्तों का आश्रय लेते हैं। भावाकुलता के इन्हीं क्षणो मे उनके हृदय से अनेक अनुभूतियो का उत्सृजन होता है। चन्द्रमौलि के वाक्यो में इसी प्रकार का आभास मिलता है ''मैंने अनेक पर्वतो और नदियों को देखा है, वनचरो से मित्रता स्थापित की है, वन्य जन्तुओं के भय से बचने के लिये मार्ग बदला है, ग्रामवधूओ का अतिथि-सत्कार ग्रहण किया है। विंध्याचल की उबड़-खाबड चट्टानो पर रेवा नदी को अनेक धाराओ मे फैलकर बहते देखा है।'' "वर्णनो का लम्बा इतिवृत्त प्रस्तुत किया है।

पूर्वदीप्ति शैली–

पूर्वदीप्ति शैली में पात्र वर्तमान में रहते हुए अतीत की स्मृतियों में खोकर उसे वर्तमान में जी लेता है। देवरात मजुला का पत्र आते ही अतीत की स्मृतियो मे खो जाती है, ''देवरात ने मजुला को देखा और आश्चर्य से दक् हो गये। उन्हें लगा कि शर्मिष्ठा ही स्वर्ग से उतरकर आ रही है। वही रूप, वही रंग, वही कान्ति, वही हंसी। मंजुला का कद जरूर जौ भर छोटा था, पर उससे कोई विशेष अन्तर नहीं आता था।

उनके हृदय में टीस अनुभूत हुई पर साथ ही सन्तोष भी हुआ। जिस रूप को देखने के लिये उनका हृदय व्याकुल था। वह अब भी देखने को मिल सकता है। वे साभिलाष दृष्टि से एकटक मंजुला को देखते रह गये।''[15]

चेतना प्रवाह शैली–

चेतना प्रवाह पद्धति द्वारा पात्र अपनी अनुभूतियों को क्रमशः विस्तार देता हुआ चिंतन करता चलता है, आर्यक के इन शब्दों में हम उसे पाते है, ''जी रहा हूं क्योकि तुम मृत्यु को नहीं भेज रहे हो, चल रहा हूं क्योंकि तुमने वासनाओ के भवर को गतिशील बना दिया है। क्षमा करना देवाधिदेव, आर्यक वंशी नहीं बन पाया है, वह विवश है, परवश है, अवश है।''[16]

इन शैलियों के अतिरिक्त 'पुनर्नवा' में सौन्दर्य चित्रण एव परिस्थिति अकन के लिए चित्रात्मक शैली, मनोविश्लेषणात्मक शैली के दर्शन पात्रों के मनोभावो के उद्घाटन के समय, संवादात्मक शैली पात्रों के परस्पर वार्तालाप के मध्य और भावावेश के क्षणों के लिए पुनर्नवाकार ने भावात्मक शैली प्रयुक्त की है।

अभिव्यक्ति कौशल–

'पुनर्नवा' में अभिव्यक्ति के लिये कथाकार की पद्धति को अपनाया है। 'पुनर्नवा' का प्रत्येक अध्याय इसी प्रकार से आरम्भ होता है, ''उज्जायिनी मे एक बहुत पुराना बगीचा था, जिसे चण्डसेन के पूर्व पुरुषो ने निर्माण कराया था। उसमे एक छोटा सा प्रासाद और एक तालाब भी था। दीर्घकाल से उपेक्षित होने के कारण प्रासाद अत्यन्त जीर्ण हो गया था और इसे 'जीर्णोद्यान' कहा जाता था। किसी समय यह उद्यान और भवन निश्चय ही बहुत सुन्दर रहे होंगे, परन्तु अब यह भूतहा समझा जाने लगा था।''[17] अन्यश्च ''देवरात साधु पुरुष थे। कोई नहीं जानता था कि वे वहां से आकर हलद्वीप में बस गये थे। लोगो में उनके विषय में अनेक प्रकार की किंवदतिया थी। कोई कहता था कि वे कुलूत देश के राजकुमार थे और विमाता से अनेक प्रकार के दुर्व्यवहार प्राप्त करके संसार से विरक्त होकर इधर चले गये थे।''[18]

'पुनर्नवा' द्विवेदी जी के गहन अध्ययन, विद्वता और अभिव्यक्ति कौशल का ही प्रमाण है। इतिहास में इन्होने जनश्रुतियों व लोककथाओं का सम्मिश्रण किया है। इतना ही नहीं धर्म, दर्शन, राजनीति, साहित्य, कला आदि के विषय में पुनर्नवाकार युक्ति से कहीं प्रसंग उद्धृत करता चलता है। नृत्य, संगीत व अन्य कलाओ से सम्बन्धित शब्दावली इसका प्रमाण है।

अभिव्यक्ति कौशल के लिये द्विवेदी जी एक नयी तकनीक अपनाते हैं। सर्वप्रथम वे सर्वथा अपरिचित शब्द को लेते हैं और तत्पश्चात् उसकी विस्तृत व्याख्या करते चलते हैं। छन्द, ताल, लय, भावानुप्रवेश, प्रत्यग्र मनोहर, उत्खात–प्रतिरोपण, स्वभाव, महाभाव, समष्टिचित, व्यक्तिमन, शालिहोत्र, शाल्यनिक, क्रोश, उज्जयिनी आदि विषयों के सन्दर्भ में द्विवेदी जी की गहरी विद्वता और इन शब्दो के प्रति उनका

व्युत्पतिपरक ज्ञान प्रकट होता है, ''उत्तरी भारत के राजपुरुष 'अश्वसुरमुद्रांकितभूमि' अर्थात् घोड़ो की टाप से मुहरवन्द की हुई भूमि के अधीश्वर होते थे। इन घोड़ों की दो प्रसिद्ध जातिया थीं–शालि और होत्र। शालि शब्द ही प्राकृत में साल, साड़ आदि बन गया था और प्राकृत से पुन: संस्कृत में आकर सात वन गया था। शुरू शुरू में शालिवाहन और 'सातवाहन' का अर्थ घुड़सवार ही था पर दक्षिणापथ के पठारों में इस श्रेणी के घोड़े इतने उपयोगी और दुर्घर्ष सिद्ध हुए, उतने उत्तरापथ के मैदानों में नहीं वहां 'होत्र' अधिक उपयोगी सिद्ध हुए, होत्र ही प्राकृत में घोट वन गया और आगे चलकर घोड़ा कहलाया।''[19]

इनके अतिरिक्त 'पुनर्नवा' में युद्धकला, मल्लविद्या व जुआ के प्रसंग और उनके विषय में प्रयुक्त शब्दावली यथार्थपरक लगती है। निश्चय ही इससे ज्ञात होता है कि द्विवेदी जी का प्राचीन साहित्य व संस्कृति पर असाधारण रूप से दखल है। यही कारण है कि ये शब्द उनके पाण्डित्य के रंग से रंगकर ऐतिहासिक परिवेश को यथावत् चित्रित कर देते है। नृत्य, संगीत, मूर्ति, स्थापत्य, साहित्य, चित्र आदि के सम्बन्ध में विस्तृत और सूक्ष्मतम ज्ञान, धर्म, दर्शन, राजनीति, साहित्य और मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, इतिहास आदि पर मजबूत पकड़ सबके सब लेखक के अध्ययन, ज्ञान और पाण्डित्य की सम्पन्नता, सुसंगता आदि को स्वत: प्रमाणित करने में सक्षम हैं।''[20]

यक्षमूर्तियों का वर्णन वड़ा ही सजीव है, ''उनका ऊंचा कद, भारी भरकम डील-डौल, चामरधारी दक्षिण हस्त, कटिविन्यस्त मुद्रा में चिपके से बांये हाथ, बड़े-बड़े कुण्डल, मोटे कड़े, महीन उत्तरीय और पंचकक्षी धोत-वस्त्र उसे विचित्र प्रकार से आकर्षित करते थे।''[21]

अभिव्यक्ति कौशल की सबसे बड़ी सीमा 'पुनर्नवा' मे संयोगों की प्रबलता है। घटनाओं को सहजता से स्फुरित नहीं होने दिया है अपितु लेखक संयोग की उपस्थिति द्वारा उन्हें जोड देता है। मंजुला का शर्मिष्ठा से साम्य, देवरात का मंजुला से मिलना, राज्यक्रान्ति के अवसर पर अकस्मात् शार्विलक व आर्यक का मिलना। शार्विलक का नटमण्डली में मांदी से परिचय और संयोगवश समय पर पहुचकर दण्डधरो द्वारा पकडी हुई मादी को मुक्त करना, शार्विलक का वृद्ध ब्राह्मण दम्पति से समागम उनके पुत्र का शार्विलक से साम्य आदि अनेक संयोगों की सृष्टि मे द्विवेदी जी का शिल्प के प्रति दुराग्रही दृष्टिकोण अभिव्यक्त होता है।

लोकजीवन का चित्रण–

'पुनर्नवा' में द्विवेदी जी ने लोकजीवन को मुखर करने का प्रयास किया है किन्तु 'पुनर्नवा' में ग्राम्य जनो के चित्रण की अपेक्षा पोर जनों का चित्रण ही सम्भवत उन्हें अधिक काम्य रहा है। साधारण जनो का परिचय एकाध स्थल पर ही आ पाया है। लोक जीवन में शिष्टाचार सामान्य जीवन की थोडी सी झलक, सम्बोधन, रीति-रिवाजों आदि का चलते-चलते जिक्र हुआ है, अधिक समय तक उपन्यास में नागर

जीवन और उसका आभिजात्य ही हावी रहा है। निम्न और उपेक्षित वर्ग के जिन पात्रों को उद्धार के उद्देश्य से उपन्यास में लिया गया है। वे भी अपने वर्ग के अभावों, संघर्षों से परिचित न कराकर उच्चवर्ग के पात्रो के अनुरूप आचरण करते है।''[22]

उपन्यास में प्रेम की समस्या के अतिरिक्त अन्य कोई सामाजिक, आर्थिक समस्या इन पात्रों को उद्विग्न नहीं करती। समाज के दलित वर्ग का, उसकी आर्थिक समस्याओं का उपन्यास में कहीं भी उल्लेख नहीं है। राजनैतिक समस्या को लेकर इस वर्ग में कुछ सक्रियता दिखाई देती है। लहुरावीर संगठन में जनता का यह वर्ग क्रान्ति मे सक्रिय योगदान देता है।

नटों के जीवन का भी किंचित उल्लेख लोकजीवन पर प्रकाश डालता है। रेभिल, श्रुतिधर के संवाद भी इसी का परिचय देते है। सामान्य लोगों की कथा, प्रवचन, भाषण या अन्य किसी आयोजन पर एकत्रित हो जाने की प्रवृत्ति की ओर संकेत किया है। चन्द्रमौलि की सुमधुर कण्ठ ध्वनि ऐसे ही अनायास लोगों को आकर्षित कर लेती है और वे तन्मयता से उसे सुनते है। लोकमानस की अच्छी अभिव्यक्ति यहां हुई है।

'पुनर्नवा' की कथा मुख्यत: उज्जयिनी, मथुरा, हलद्वीप आदि नगरों में ही संचरण करती है। नागर जीवन और ग्राम्य जीवन को अलगाने वाली कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खिंची गई है।

प्रतीक मिथक और विम्ब–

द्विवेदी जी के उपन्यासों में प्रतीकों का प्रयोग भी मानवीय मूल्यों के संदर्भ में हुआ है। प्रतीक द्विवेदी जी के उपन्यासो के प्रतिपाद्य को स्पष्ट करने में सहयोगी सिद्ध हुए हैं। द्विवेदी जी अपने उपन्यासों मे प्रौढ प्रतीकों का उपयोग करते हैं और उनका यही माध्यम उनके उपन्यासों का क्षेत्र विस्तृत करता है। उनके चारों उपन्यासो के शीर्षक भी प्रतीकात्मक ही है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' उपन्यास द्विवेदी जी का प्रथम उपन्यास है और उसका शीर्षक व्यक्ति विशेष से सम्बन्धित है किन्तु उपन्यास पढने के उपरान्त ज्ञात होता है कि यह व्यक्ति विशेष की आत्मगाथा ही नहीं है वह तो प्रतीक मात्र है, जिसका प्रतिनिधित्व आस्था लोक में भट्टिनी के आराध्य देव महावराह करते हैं। महावराह ने नर्क में बंदिनी रूप धरित्री का उद्धार किया था। आज भी नारी बंदिनी होकर नरक सृष्टि में पड़ी कष्ट भोग रही है, उसे अपने उद्धारकर्ता के रूप में महावराह स्त्री पुरुष की आवश्यकता है जो उसे सर्वरूपेण स्वतंत्र करा सके। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में बाणभट्ट महावराह का ही प्रतीक है और भट्टिनी को उससे अपने उद्धार की आशा है, वही उसे छोटे राजकुल रूपी नर्क से मुक्त करा सकता है। इस प्रकार द्विवेदी जी प्रतीक प्रयोग से जहां उपन्यास विचित्रता की सृष्टि करते हैं वहीं इससे कलात्मकता की सृष्टि होती है।

'चारुचन्द्रलेख' राजा सातवाहन, चन्द्रलेखा और मैना भी प्रतीक सृष्टि

करते है। राजा सातवाहन ज्ञानशक्ति हैं, चन्द्रलेखा इच्छाशक्ति और मैना क्रियाशक्ति। ज्ञान, इच्छा और क्रिया के सम्यक् समन्वय से ही मानव मे पूर्णता आती है। इन तीनो का एकाकी होना ही अपने आप में अपूर्णता है। अकेला ज्ञान (सातवाहन), इच्छा (चन्द्रलेखा) के सहयोग से अपनी लक्ष्य प्राप्ति की ओर उन्मुख होता है किन्तु इच्छा, क्रिया (मैना) से योग कराकर भटक जाती है ''लेखक त्रिपुर के इस वैषम्य को कामायनीकार की भांति किसी ज्योति रेखा के काल्पनिक समाधान से नहीं मिलाता वह तत्कालीन युग की असफलता को चित्रित करते हुए, वर्तमान में भी वैषम्य की ओर सकेत करता है।''[23]

'पुनर्नवा' में 'मृणाल' चन्द्रा और गोपाल आर्यक इच्छा, क्रिया और ज्ञान के प्रतीक रूप में देखे जा सकते है। गोपाल आर्यक (ज्ञान), मृणाल (इच्छा) तथा चन्द्रा (क्रिया) से पृथक् होकर कष्ट पाता है। तीनों की अपनी वेदना है क्योकि इन तीनो का पारस्परिक समन्वय उपयुक्त नहीं है। समन्वय होने पर विषमता हट जाती है और तीनों अपने शुद्ध रूप में आ जाते है।

'अनामदास का पोथा' सभी उपन्यासो से भिन्न है। इसमें उपन्यासकार ने सूक्तियों के सहारे बाह्य जगत की परिधि को समेटा है।

बिम्बो में द्विवेदी जी ने स्मृत बिम्बों का सर्वाधिक आश्रय लिया है। 'पुनर्नवा' में स्मृत बिम्बो के सहारे पात्र अपने विगत में खो जाते है। स्मृत बिम्बो के आधार पर ही अतीत के विविध प्रसंग खुलते जाते है और कथा निरन्तर प्रगति की ओर उन्मुख होती जाती है अतएव बिम्ब और प्रतीक सृष्टि द्विवेदी जी के उपन्यासो का प्राणतत्त्व है। जब उपन्यास में प्रतीक रूपकात्मक शैली के साथ जुडकर कथा में प्रयुक्त होते है तो मिथक बन जाते हैं। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में मानवीय संवेदना की उस तह को उभारा गया है जब मानव विपत्ति का समय होता है तो उसे अपने संकट से उद्धार के लिए उद्धारकर्ता की अपेक्षा रहती है, जो उसे सात्वना दे और तात्कालिक संकट से मुक्ति भी दिलाये। बाद में यही अन्धविश्वासो से युक्त हो मिथक बन जाता है। महावराह ऐसे ही केन्द्रवर्ती मिथक हैं।

'पुनर्नवा' मे यद्यपि इस प्रकार का मिथक प्रयुक्त नही हुआ है तथापि गोपाल आर्यक के प्रति जिस प्रकार का विश्वास प्रजा में उत्पन्न हो गया था वह उसे उद्धारकर्ता की मिथकीय कल्पना से ही जोडता है। गोपाल आर्यक की लोरिक देव के रूप मे मान्यता और उसका अप्रतिम पौरुष सहज विश्वसनीय ढंग से उसे मिथक से जोड़ देते है। इस प्रकार द्विवेदी जी ने प्रतीक, बिम्ब और मिथक का सम्यक् सम्मिश्रण प्रस्तुत कर कथा सौन्दर्य में वैचित्र्य की सृष्टि की है।

मनोविज्ञान–

द्विवेदी जी ने 'पुनर्नवा' में अपने पात्रों का चरित्र विश्लेषण मनोविज्ञान के धार पर किया है। पात्रो की मानसिक स्थिति, ऊहापोह मनोवैज्ञानिक धरातल

पर हुई है। मृणाल के बाल्यावस्था, किशोरावस्था और युवावस्था का चित्रण शारीरिक और मानसिक स्तर के क्रमिक आधार पर हुआ है। मृणाल मंजरी आर्यक की बालसखी थी। दोनों बचपन में साथ-साथ क्रीड़ारत रहे लेकिन किशोरावस्था का आगमन मृणाल में चित्तगत संकोच उत्पन्न कर देता है और वह आर्यक के विषय में कुछ भी पूछने में संकोच अनुभव करती है 'आर्यक' का किसी प्रसंग में नाम आ जाने पर वह कुछ उपेक्षा भाव दिखाती है, पर प्रसंग बदल देने पर चाहती है कि किसी प्रकार फिर छिड़ जायें।''[24]

देवरात मंजुला का प्रणय मनोवैज्ञानिक धरातल पर हुआ है। देवरात मंजुला में शर्मिष्ठा की झलक से आकर्षित होते हैं, तो मंजुला श्रेष्ठ पुरुष के रूप में देवरात को देख आकृष्ट होती है। द्विवेदी जी ने समाज में हीन समझी जाने वाली नारियों को उच्च धरातल प्रदान करते हुए उनकी मानवीय संवेदनाओं का तिरस्कार किया है। मंजुला देवरात के प्रेम के लिए तरसती रह जाती है, तो देवरात भी मंजुला के प्रेम की अतृप्ति से ही भरे रहते हैं। वे मंजुला को 'प्रिये' कहना चाहकर भी नहीं कह पाते, वह उनकी 'भावरूपे' ही बनी रहती है। शार्विलक मांदी के सम्बन्ध में भी इसी मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाया गया है। स्वेद, रोमांच, जड़ता, संकोच, लज्जा, चित्त संकोच, चित्त विस्तार, अभिलाष भाव, समष्टि चित्र, व्यष्टि चित्र, स्वभाव, महाभाव आदि की अभिव्यक्ति के समय लेखक ने मनोवैज्ञानिक अध्ययन का पूर्ण और कुशल उपयोग किया है।''[25]

चन्द्रा के उद्दाम प्रेमावेग को फ्रायड के सैक्स दर्शन के प्रकाश में देखा गया है। सौतेली माता की उच्छृंखलता को देखकर बाल्यावस्था से ही उसके मन में काम-प्रवृत्तियां प्रबल हो उठी हैं। उसका प्रेमावेग अतृप्त आकांक्षाओ को लेकर है। ये अतृप्त आकांक्षायें सर्वप्रथम उसे उद्धत बनाती हैं। तत्पश्चात् उनका वात्सल्यभाव के रूप में उदात्तीकरण हो जाता है। देवरात चन्द्रमौलि प्रेम की असफलताओं से कुण्ठित हो मानवता धर्म को अपनाकर अतृप्त आकांक्षाओं का उदात्तीकरण करते है। स्वप्नो के द्वारा अचेतन मन की इन तृष्णाओं की पूर्ति होती रहती है, ''स्वप्न मे मनुष्य जो कुछ देखता है, वह किसी न किसी वास्तविक परिस्थिति का ही रूप होता है। परन्तु उनकी बात मेरी समझ में कभी नहीं आयी। बहुत से लोग जागते में भी सपना देखते हैं। वे काल्पनिक जगत का निर्माण करके अपने आपको भुलावा देते रहते है।''[26]

स्वप्न-विश्लेषण के अतिरिक्त द्विवेदी जी ने 'टेलिपैथी' का भी व्यापक रूपेण प्रयोग किया है। अवस्तु बोधन (हैल्युसिनेशन) के लक्षण सिद्ध बाबा, संन्यासिनी आदि के वर्णनों में मिलते है। इनके चित्रण में लेखक ने फेटेसी का प्रयोग किया है।

चन्दनक, मंजुला, बसन्तसेना के पत्रों द्वारा पत्रात्मक शिल्प का प्रयोग है। अपभ्रंश के पद्यों को कुछ परिवर्तन के साथ प्रस्तुत किया है। अप्रस्तुत योजना और विशेषणों का 'पुनर्नवा' में बाहुल्य है। आत्मकथात्मक शैली मे रचित

के कारण 'पुनर्नवा' में वस्तुनिष्ठता अधिक है। 'पुनर्नवा' की भाषा और शिल्प गरिमा मंडित है। उनकी कृतियां मनोरंजन के साथ-साथ अनेक समस्याओं का समाधान भी प्रस्तुत करती हैं।

****

संदर्भ :

1 पुनर्नवा
2 पुनर्नवा, फ्लैप पर की टिप्पणी
3 पुनर्नवा, फ्लैप से
4 हिन्दी उपन्यास अंतरग पहचान, डॉ प्रेमकुमार, पृष्ठ–160
5. पुनर्नवा, पृष्ठ–170
6. हिन्दी उपन्यास : अंतरंग पहचान, डॉ. प्रेमकुमार
7. पुनर्नवा, पृष्ठ–88-89
8 आधुनिक हिन्दी उपन्यास, सं. भीष्म साहनी, आदि, पृष्ठ–369
9. पुनर्नवा, पृष्ठ–91-92
10. पुनर्नवा, पृष्ठ–142
11. पुनर्नवा, पृष्ठ–265
12. पुनर्नवा, पृष्ठ–264-265
13 पुनर्नवा, पृष्ठ–22
14 पुनर्नवा, पृष्ठ–88
15 पुनर्नवा, पृष्ठ–54
16 पुनर्नवा, पृष्ठ–180
17. पुनर्नवा, पृष्ठ–136
18. पुनर्नवा, पृष्ठ–9
19 पुनर्नवा, पृष्ठ–216
20. हिन्दी उपन्यास : अंतरंग पहचान, डॉ. प्रेमकुमार, पृ. 168
21. पुनर्नवा, पृष्ठ–59
22. हिन्दी उपन्यास . अंतरंग पहचान, डॉ. प्रेमकुमार
23. शान्ति निकेतन, शिवालिक, सं. शिवप्रसाद सिंह, चारुचन्द्रलेख से नवलकिशोर द्वारा लिखित उद्घृत निबन्ध
24. *पुनर्नवा, पृष्ठ–31-33*
25 *हिन्दी उपन्यास, अंतरग पहचान, डॉ. प्रेमकुमार, पृष्ठ–167*
26. पुनर्नवा, पृष्ठ–110

उपसंहार

उपलब्धि और सीमाएं

'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'चारु चन्द्रलेख' के पश्चात् 'पुनर्नवा' द्विवेदी जी के सांस्कृतिक उपन्यासों की शृंखला में आकर जुड़ गया है।

'पुनर्नवा' समुद्रगुप्त युगीन कल्पना प्रधान ऐतिहासिक उपन्यास है। भारत का विगत गौरवपूर्ण इतिहास द्विवेदी जी के उपन्यासो का मुख्य उपजीव्य रहा है। द्विवेदी जी जब अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के द्वारा चितनरत होते हैं तो अपने कल्पनाविलास से वे इतिहास में भी काल्पनिक रोमांस की सृष्टि कर देते है। इस तथ्य से इतिहास की शुष्कता व घटनात्मकता का दोष हट जाता है और पाठक इतिहास में भी रस का आनन्द लेता हुआ आनन्दित होता है।

'पुनर्नवा' उपन्यास में भी यद्यपि द्विवेदी जी ने कुषाण राज्य के पतन से लेकर सम्राट समुद्रगुप्त के शासन तक के काल को लिया है तथापि उन्होने ऐतिहासिकता का निर्वाह भर किया है। कुछ पात्र अवश्य इतिहास से लिये हैं किन्तु उनके नामोल्लेख के अतिरिक्त कुछ भी इतिहास से सम्बद्ध नहीं है। उनके व्यक्तित्व का चित्रण द्विवेदी जी ने अपनी कल्पना के विराट कैनवास पर संवेदना के रंगों से किया है। उनकी शैली की यह अभूतपूर्व विशेषता है कि वह इतिहास बोध में बाधक नहीं बनती अपितु पाठक को रसमग्न कर देती है। इसके अतिरिक्त उपन्यास की उपलब्धि लोककथाओं, जनश्रुतियों और लोकजीवन से इसकी गहन सम्पृक्ति भी रही है। इन सभी का इतना सम्यक् सम्मिश्रण पुनर्नवाकार ने प्रस्तुत किया है कि कहीं भी विरोध या टकराहट प्रदर्शित नहीं होती।

अपने प्रारम्भिक उपन्यासों में द्विवेदी जी जिस सामाजिक और सास्कृतिक प्रश्नो के मोड़ पर रुके थे 'पुनर्नवा' में आकर वे जैसे राह पाकर गतिमान हो गए है, कुछ अनुत्तरित प्रश्न यहां सुलझ गये हैं। इन प्रश्नों में कुछ स्त्री पुरुष के सम्बन्धो से सम्बन्धित हैं तो कुछ प्रेम व अन्य सामाजिक मूल्यों से। इस हेतु वे एक महत्त्वपूर्ण सुझाव प्रस्तुत करते हैं ''अगर निरन्तर व्यवस्थाओं का संस्कार एवं परिमार्जन नहीं होता रहेगा तो एक दिन व्यवस्थायें तो टूटेंगी ही, अपने साथ धर्म को भी तोड़ देंगी।

'पुनर्नवा' की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि उनके द्वारा प्रस्तुत नारी जीवन की नूतन व्याख्या है। नारी सिर्फ पुरुष की बन्धक ही नहीं है अपितु उसका अपना स्वतत्र व्यक्तित्व व कृतित्व है। वह परिवार व समाज के लिये ही उपादेय नहीं है अपितु राष्ट्र के लिए भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है। उसका सिहवाहिनी रूप पुरुष में पौरुष का संचार कर प्रेरणा देता है यहीं वह दुष्टो के लिए महिषमर्दिनी रूप भी धारण करता है। ये नारियां समाज और धर्म के संकीर्ण क्षेत्रों से बहुत ऊपर उठकर मानवता का प्रकाशस्तम्भ बन जाती है। ये नारियां समाज के उपेक्षित दीन-हीन वर्गो से सम्बन्धित हैं, इनको अपनी सहानुभूति का प्रसाद देकर द्विवेदी जी ने समाज में प्रतिष्ठित किया है तथा इन्हे सम्मानित स्थान प्रदान किया है।

उनकी आस्था, विश्वास, मानवीयता और पर-हित चिंतन जैसे गुण उन्हें समाज के तथाकथित आभिजात्य वर्ग से बहुत ऊंचा उठा देते हैं। इन पात्रों की सृष्टि और उन्हें महिमान्वित करने का द्विवेदी जी का प्रयास श्लाघनीय है और 'पुनर्नवा' की बहुत बड़ी उपलब्धि है।

भारतीय परिवार के उच्चतम आदर्श भी 'पुनर्नवा' के माध्यम से द्विवेदी जी ने प्रस्तुत किये हैं। देवरात एक आदर्श पिता और गुरु के रूप में अपनी अमिट छाप छोड़ते हैं। मृणाल मजरी के प्रति उनका वात्सल्य और गोपाल व श्यामरूप को दी हुई शिक्षा अपने आप में बहुत महान उपलब्धियां है। आर्यक की वृद्धगोप के सम्मुख की गई विनम्रता और आज्ञाकारिता आदर्श पुत्र का रूप उभारती है। श्यामरूप और आर्यक का पारस्परिक स्नेह बन्धुत्व की आदर्श प्रतिमा है। मृणाल, धूता, शर्मिष्ठा पत्नीत्व के आदर्श को उभारती है। पुरुष पात्रों को पत्नी के अतिरिक्त अन्य स्त्री मे अनुरक्त दिखाकर द्विवेदी जी संभवतः तत्युगीन बहुपत्नी प्रथा का उद्घाटन करना चाहते हैं।

'पुनर्नवा' का वैशिष्ट्य उसका शीर्षक भी रहा है। 'पुनर्नवा' का अर्थ है बासी को ताजा करना। यही वह तथ्य है जिससे जीवन सप्राण और सजीव रह सकता है। संवेदनायें कभी-कभी मानव को गहन अन्तरतम तक इस प्रकार आक्रान्त कर लेती हैं कि वह उनके सम्मुख विवश हो जाता है और प्रयत्न करने पर भी उनसे मुक्त नहीं हो पाता। जीवन यूँ ही कुंठित होने लगता है। 'पुनर्नवा' के माध्यम से ही मानव अपने जीवन में सरसता और आह्लाद की सृष्टि कर सकता है। जीवन अमूल्य है और कुछ अनुभूतियो की जड़िमा से नष्ट करने योग्य नहीं, आवश्यकता इसी बात की है कि मानव अपनी जड़ संवेदनाओं को उखाड़ कर नये भावों का प्रतिरोपण करे। प्रकृति भी इसी सिद्धान्त के अनुरूप चलती है। पुरातनता की केंचुल को उतारकर नित्य नवीन रूपो में प्रकृति अपने को अभिव्यक्त करती है। जहा ऐसा नहीं होता वहां नीरसता आने लगती है और यही एक दिन सड़ांध की सृष्टि करती है। अतएव पुनर्नवता जीवन का अत्यन्त महत्वपूर्ण और आवश्यक अंग है।

'पुनर्नवा' की एक प्रमुख उपलब्धि यह है कि यह अपने पूर्ववर्ती उपन्यासों से शैल्पिक दृष्टि से भिन्न है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'चारुचन्द्रलेख' की तरह 'पुनर्नवा' मे द्विवेदी जी ने औपन्यासिक छल का प्रयोग नहीं किया है अपितु पाठक को कथा के सरल और सहज राजमार्ग से ले चलते हैं जहां रहस्य और गुह्यताओ की कटीली झाडियां नहीं है और न तंत्र-मंत्र की अंधेरी गलियां ही हैं।

अस्तु 'पुनर्नवा' हजारी प्रसाद द्विवेदी जी की हिन्दी साहित्य को अनुपमेय सांस्कृतिक भेट है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। 'पुनर्नवा' में भारतीय संस्कृति का उदात्त स्वरूप दृष्टिगोचर होता है किन्तु कतिपय बातो की ओर सहज ही ध्यान आकृष्ट होता है जिन्हे उपन्यास की सीमा कहा जा सकता है।

'पुनर्नवा' में उन्होने समाज में हेय समझी जाने वाली चन्द्रा को 'पतिव्रताओ

की शिरोमणि' की संज्ञा दी है। प्रश्न उठता है कि क्या अतिशय स्तुति व अनावश्यक चरित्र विकास के द्वारा किसी को महान् बनाया जा सकता है ? निश्चय ही नहीं, चन्द्रा के चरित्र को लेकर द्विवेदी जी ने पूर्वाग्रह से युक्त दृष्टिकोण सामने रखा है और इसी की पुष्टि के लिए सोमेश्वर आदि पात्रों की सृष्टि की है और इनके द्वारा चन्द्रा की अनावश्यक स्तुति करायी गई है। मृणाल-मंजरी के प्रेम की ऊंचाई के समक्ष चन्द्रा का उद्दाम आवेग और वात्सल्य फीका सा लगने लगता है। गोपाल आर्यक, शार्विलक ओर देवरात जैसे प्रमुख पात्रों का भी स्वतंत्र विकास न दिखा कर उन्हें उपन्यासकार ने अपने हाथो की कठपुतलियां बना दिया है। संयोगों, चमत्कारों और नाटकीयतत्त्वों ने 'पुनर्नवा' को धूमिल सा कर दिया है। माता संन्यासिनी व सिद्ध बाबा के प्रसग वर्तमान में अप्रासंगिक से लगते है और पाठकों की चेतना मे क्षोभ उत्पन्न करते है। सभवत. द्विवेदी जी ने इसे तत्युगीन परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया हो किन्तु वर्तमान मे ये रसाभास के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

'पुनर्नवा' में फलित द्विवेदी जी का सांस्कृतिक बोध पारम्परिक महत्तम गुणों व वर्तमान आधुनिक चेतना से जुड़ा है। इसमें नारी है किन्तु पुरुष की अनुगामी नहीं सहगामी के रूप में। उसमें सौन्दर्य है तो शील और शक्ति से भी वह आपूर्ण है। व्यक्तिमता है तो नि.शेष भाव से अपने आप को समष्टि हित के लिए लगा देने की चेतना भी है। अतीत, वर्तमान और भविष्य का अद्भुत समागम 'पुनर्नवा' में है। जिसमें द्वन्द्व, संघर्ष और व्यक्तिगत स्वार्थ विलय हो जाते हैं और प्रस्फुटित होती है, लोकमंगलेच्छा की कामना। जड़ मान्यताओ को उखाड़ने का प्रयास है तो नव-मानवता के उदात्त गुणो के प्रतिरोपण का सिद्धान्त भी। इन सभी मान्यताओं के आलोक में ही 'पुनर्नवा' इतनी श्रेष्ठ कलाकृति के रूप में उभर सकी है।

***

–सहायक ग्रन्थ सूची–

आधुनिक हिन्दी उपन्यास :

सम्पादक . डा. भीष्म साहनी, डा. रामजी उपाध्याय, भगवतीप्रसाद निदारिया, जाकिर हुसैन कॉलेज प्रकाशन।

अशोक के फूल :

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी-प्रथम संस्करण-1976

ऐतिहासिक उपन्यास :

सम्पादक डा. गोविन्दजी-साहित्यवाणी, इलाहाबाद

अनामदास का पोथा :

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

भारतीय संस्कृति :

डॉ देवराज

भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व :

डॉ सत्यनारायण पाण्डेय, डा. आर वी. जोशी

साहित्य निकेतन, कानपुर, प्रथम सस्करण-1966

भारतीय संस्कृति का विकास :

डॉ सत्यकेतु विद्यालंकार

वाणभट्ट की आत्मकथा :

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिदी ग्रंथ रत्नाकर (प्रा लि.) हीराबाग, गिरगांव, मुम्बई, सस्करण-तीसरा 1958

चारुचन्द्रलेख :

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी-प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., दिल्ली, द्वितीय संस्करण-1965।

कल्चर : ए क्रिएटिव रिवीव ऑफ कान्सेप्ट्स एण्ड डेफिनेशन्स

ए एल क्रोबर एण्ड सी. केल्कोहम

गुप्तकाल का सांस्कृतिक इतिहास–डा. भगवत शरण उपाध्याय, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उ प्र. लखनऊ, संस्करण-1969।

हिन्दी उपन्यास : अंतरंग पहचान :

डॉ. प्रेमकुमार, गिरनार प्रकाशन, मेहसाना, प्रथम सस्करण-1982

हिन्दी साहित्य का इतिहास–आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत 2012 वि।

हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा

डॉ. रामदरश-राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-1968

हिन्दी उपन्यास के सौ वर्ष :
सम्पादक : रामदरश मिश्र, गिरनार प्रकाशन, मेहसाना, प्रथम संस्करण-1984
हिन्दी उपन्यास साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन :
डॉ. रमेश तिवारी
हिन्दी साहित्य का आदिकाल :
हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्र. बिहार, राष्ट्र भाषा परिषद, द्वितीय संस्करण-1957
हिन्दी साहित्य की भूमिका :
हजारी प्रसाद द्विवेदी, पं. नाथूराम प्रेमी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, 5वां संस्करण-1954
हिन्दी के दस सर्वश्रेष्ठ कथात्मक प्रयोग :
सम्पादक : अरविन्द गुर्टू,
रणजीत प्रिन्टर्स एण्ड पब्लिशर्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1966।
हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास प्रयोग :
डा. गोविन्द, कल्पना प्रकाशन, मेरठ, प्रथम संस्करण . 1974
हिस्ट्री ऑफ ऐन्सिएन्ट इण्डिया :
आर.एस. त्रिपाठी
जैन संस्कृति : एक विश्लेषण—श्री मधुकर जैन
कल्पलता :
आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
मृच्छकटिकम् या मिट्टी की गाड़ी—मूल लेखक शूद्रक, रूपान्तरकार मोहन राकेश,
राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., संस्करण 1962
मानव और संस्कृति :
श्री श्यामचरण दुबे, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। प्रथम संस्करण-1960
मृच्छकटिकम् या मिट्टी की गाड़ी-मूल लेखक-शूद्रक, अनुवादक-डा. रागेय राघव, राजपाल
एण्ड सन्स, दिल्ली, चौथा संस्करण, 1970
'पुनर्नवा' :
आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्र. राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, चतुर्थ संस्करण-1981
प्रीमिटिव कल्चर :
ई बी. ऑयलर
रचना और आलोचना :
श्री देवीशंकर अवस्थी
साहित्य संगम :
आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी-स. डॉ. रामकुमार गुप्त,
मगल प्रकाशन, जयपुर, प्रथम संस्करण-1984

संस्कृति का दार्शनिक विवेचन :
डॉ देवराज, प्रकाशन-ब्यूरो सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, प्रथम सस्करण-1957
समसामयिक हिन्दी साहित्य की उपलब्धियां :
सम्पादक मन्मथनाथ गुप्त, नेशनल पब्लिशिग हाऊस, दिल्ली, सं. 1967
साहित्य सहचर :
हजारी प्रसाद द्विवेदी-नैवेद्य निकेतन, वाराणसी-1965।
संस्कृति के चार अध्याय :
रामधारीसिंह दिनकर, राजकमल एण्ड संस, दिल्ली संस्करण-1956।
समाज शास्त्र:
डॉ गोपाल कृष्ण अग्रवाल
सोशियोलोजी :
लुण्ड वर्ग एण्ड अदर्स
विचार और वितर्क :
आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
विचार प्रवाह :
आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी (1959)
पत्र-पत्रिकायें :

1 दस्तावेज-वर्ष 2, अंक 5/6, अक्टूबर 1979-जनवरी 1980, सम्पादक-विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, प्रकाशन दस्तावेज प्रकाशन, बेतियाहाता, गोरखपुर।
2. साप्ताहिक हिन्दुस्तान-(17 से 23 जून, 1979 वर्ष 29 अंक 36), सं. मनोहर श्याम जोशी, प्र. हिन्दुस्तान टाइम्स प्रकाशन, दिल्ली।
3. सारिका - (16 सितम्बर, 1979 वर्ष 19 अंक-249) सं. कन्हैयालाल नन्दन, प्र. टाइम्स ऑफ इण्डिया प्रकाशन, दिल्ली।
4 विवेचना संकलन, भाग-1, स उमराव, प्र. भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद - सं.-1971
5 धर्मयुग - 24 मार्च, 1974, 31 मार्च 1974